—: सर्वोदय साहित्य माला : एक सौ बारहवाँ :—

अहिंसा-विवेचन

किशोरलाल घ० मशरूवाला

सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली
दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : इलाहाबाद : कलकत्ता

जनवरी, १९४२ : २०००

मूल्य

आठ आना

प्रकाशक—

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री

सस्ता साहित्य मण्डल,

नयी दिल्ली

मुद्रक—

देवीप्रसाद शर्मा,

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,

नयी दिल्ली

आदि-वचन

यह एक संयोग की ही बात है कि 'व्यावहारिक अहिंसा'-सम्बन्धी ये निबन्ध रिचार्ड बी० ग्रेग-लिखित 'अहिंसा और अनुशासन'[1] के लग-भग साथ-ही-साथ प्रकाशित होरहे हैं। अहिंसा के उपासकों को इन्हें एकसाथ ही पढ़ना चाहिए। रिचार्ड ग्रेग की तरह किशोरलाल मशरूवाला भी अहिंसा के गहरे विद्यार्थी हैं। यद्यपि इसी विश्वास के वातावरण में उनका लालन-पालन हुआ है, किसी भी बात को वे स्वयंसिद्धि के रूप में नहीं मान लेते। वे तो केवल उसीपर विश्वास करते हैं जिसे वे अपनी कसौटी पर कस लेते हैं। इस प्रकार भारी सोच-विचार के बाद वह अहिंसा को मानने लगे हैं। और अपने जीवन एवं व्यवहार द्वारा राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा घरेलू आदि विविध परिस्थितियों में उसकी उपयोगिता को उन्होंने सिद्ध किया है। इसलिए उनके निबन्धों का अपना विशेष महत्त्व है। मुझे आशा है कि अहिंसा में विश्वास रखनेवालों को अपना विश्वास क़ायम रखने और ईमानदारी के साथ विश्वास न करने-वालों को अपनी शंकाओं का समाधान करने में इनसे मदद मिलेगी।

सेवाग्राम,
३१ अगस्त, १९४१

मो० क० गांधी

---

१ इस पुस्तक का अनुवाद भी 'मंडल' से शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

भूमिका

इन दो-तीन सालों में अहिंसा को लेकर मैंने जो कुछ लेख लिखे हैं, उनमें से छ: लेखों का इसमें संग्रह है। पुस्तक की मोटाई न बढ़ाने की दृष्टि से, फ़िलहाल इतने ही चुने गये हैं। ये सब 'सर्वोदय' मासिक में आ चुके हैं। इनमें से पहला मूल गुजराती में और दूसरा और छठा मूल अंग्रेजी में लिखे गये थे, और तीनों छपने से पहले ही गांधीजी की नजर से गुजर चुके थे। पहले और दूसरे की अंग्रेजी पुस्तिका के लिए उन्होंनें आदि-वचन भी लिखा है। तीसरा लेख पहले मराठी में लिखा गया था।

लेखों की भाषा के बारे में थोड़ी सफाई कर देना जरूरी है। कुछ लेखों का अनुवाद मेरा किया हुआ है, और कुछका मित्रों ने किया है। जहाँ मेरा अनुवाद या मूल लेख भी हो, वहाँपर भी मित्रों द्वारा मेरी भाषा में संशोधन किया ही जाता है। और हर वक्त एक ही मित्र नहीं करता, तथा मेरा भाषा-ज्ञान भी दिन-दिन वदलता रहता है; इसलिए पुस्तक में एक ही तरह की भाषा-शैली नहीं मिलेगी। कृपालु पाठक-गण लेखों के विचारों का ही खयाल करें, भाषा और शैली को दरगुजर करें। मैं चाहता कि मैं इसकी भाषा और शैली ज्यादा सरल कर सकता।

सेवाग्राम
२५-१२-४१

कि० घ० म०

विषय-सूची

१
अहिंसा के आदर्श, सिद्धान्त और आचार

२
व्यवहार्य अहिंसा

३
मनुष्य की स्वभावगत अहिंसा-वृत्ति

अहिंसा-विवेचन

: १ :

अहिंसा के आदर्श, सिद्धान्त और आचार

[अहिंसा के ही मार्ग से जो लोग जनता की सेवा और देश की भलाई साधना चाहते हैं, उनके उद्देश्य, सिद्धान्त और वर्ताव कैसे हों, इसकी रूपरेखा—जिसे कि गांधीजी ने पसन्द किया है—अहिंसा के सेवकों को राह दिखाने के लिए यहाँ दी जाती है :—]

१
आदर्श और सिद्धान्त

१. जीवन का सच्चा आधार या बुनियाद अहिंसा ही है, न कि हिंसा।

२. 'मैं' और 'मेरे' के तंग दायरे में बँधे रहने से ही हिंसा पैदा होती है। यह दायरा लगातार बढ़ाते जाना ही अहिंसा की साधना है।

३. सारे जीव एक-से हैं। बल्कि सबमें एक ही आत्मा है। (इसलिए, कहने की ज़रूरत नहीं कि, सभी आदमी बराबर हैं।) परन्तु चूँकि अहिंसा की साधना मनुष्यों में करनी है, इसलिए, मनुष्य-समाज का विचार खास तौर पर करना चाहिए।

४. सारा मनुष्य-समाज एक ही परिवार (खानदान) है। स्त्री-पुरुष भी समान हैं। परन्तु उस परिवार में देश, राज्य, वंश, रंग, वर्ण (धन्धा), जाति, धर्म, शिक्षा, पैसा, भाषा, लिपि वग़ैरा के भेदों के सबब से जुदी-जुदी टोलियाँ बन गयी हैं। इन्हीं भेदों (फ़र्कों) की वजह से व्यक्तियों और क़ौमों में भी विशेषताएँ या खासियतें पैदा हो जाती हैं।

५. इन फ़र्कों या खासियतों को टालना या नज़रअंदाज़ करना मुमकिन नहीं है। लेकिन उनपर घमण्ड या दुरभिमान करना ठीक नहीं है। ये फ़र्क़ और खासियतें जिस हदतक समूचे मानव-परिवार की भलाई

और सुख बढ़ाने में मदद पहुँचाते हैं, उसी हदतक उनकी हिफ़ाजत करनी चाहिए और उन्हें बढ़ाना चाहिए। अपनी इस तरह की विशेषताएँ मानव-परिवार की सेवा में लगा देना और, अगर वे मनुष्यों की किसी भी जमात को तकलीफ़ देनेवाली हों तो, खुशी से उन्हें छोड़ देना अहिंसा की साधना है। सभी फ़र्कों और खासियतों को बिलकुल मिटाकर सारी मनुष्य-जाति को किसी एक ही ढांचे में ढालने की कोशिश बेकार है। और न वह बिना हिंसा के हो ही सकती है।

६. भेद और विशेषताओं की बदौलत दूसरों के प्रति हमारे कुछ कर्त्तव्य उत्पन्न हो जाते हैं, न कि अधिकार या घमण्ड। इसीमें से सर्व-धर्म-समभाव, अस्पृश्यता-निवारण, (भोजनादि व्यवहारों में) एक पंगत आदि आचार अहिंसा की साधना में लाज़िमी तौर पर पैदा हो जाते हैं।

७. मानव-परिवार के हरएक व्यक्ति के सुख और भलाई के लिए यह ज़रूरी है कि मानव-व्यवहार में से हिंसा बिलकुल मिटादी जाये।

८. एक जमात जब हिंसा करती है, तब उसका बदला लेने या उससे अपना बचाव करने के लिए हिंसा करने की प्रेरणा दूसरे पक्ष के दिल में उठती है। इस प्रकार हिंसा के ज़रिये हिंसा का निपटारा करने की वृत्ति ने मानव-कुटुम्ब में घर कर लिया है।

९. परन्तु इस रीति से हिंसा बंद नहीं होती और न अन्त में दोनों जमातों में न्याय का संबंध (ताल्लुक) ही क़ायम होता है। नतीजा यह होता है कि, कुल मिलाकर, हिंसा करनेवाले पक्ष अपने को, अपने बाल-बच्चों और सारे मानव-परिवार को नुकसान पहुँचाते हैं।

१०. इसलिए अन्याय (नाइन्साफ़ी) या बुरा काम चाहे कितना ही ज़बर्दस्त क्यों न हो, उसके खिलाफ़ हिंसा से काम हरगिज़ नहीं लेना

चाहिए। हिंसा के तरीक़े आज़माने की वृत्ति को दबाने से ही अहिंसा की साधना हो सकती है।

११. अहिंसा में जीवन का उचित धारण-पोषण और विकास करने की शक्ति भरी हुई है और होनी ही चाहिए। इसलिए जिन अन्यायों या बुरे कामों के खिलाफ हिंसक उपाय काम में लाने को जी चाहता है, उनके अहिंसक इलाज भी होने ही चाहिएँ। जो सच्चे दिल से अहिंसा की साधना करेगा, वही उन्हें खोज सकेगा।

१२. जीवन का हरएक व्यवहार अहिंसा के द्वारा चल ही सकना चाहिए। अमुक क्षेत्र में अहिंसा काम ही नहीं देगी, यह अश्रद्धा हमें अपने दिल से निकाल देनी चाहिए और समाज में से भी उसे मिटाने की कोशिश करनी चाहिए। जबतक अन्याय मिट नहीं जाता, तबतक अहिंसा की साधना अधूरी ही माननी चाहिए।

१३. परन्तु इसके लिए हमें सभ्यता या तहज़ीब के बारे में अपनी कई मौजूदा धारणाओं (ख़यालों) में फ़र्क़ करना होगा।

अबतक अहिंसा की जितनी साधना हुई है, उसके अनुसार नीचे लिखे सिद्धान्त (उसूल) अहिंसा के अंग (जुज़) माने जा सकते हैं:--

१४. भोग-विलास और ऐश-आराम की इच्छाओं का हिंसा से सीधा संबंध है। इससे उलटा, सादगी, संयम, तितिक्षा (तकलीफ़ बर्दाश्त करने की ताक़त) और शारीरिक श्रम अहिंसा के अनुकूल (मुआफ़िक़) हैं।

१५. बहुत बड़ी और ज़बरदस्त तजवीज़ें और आँखों को चौंधियानेवाला अमन-चैन तथा ऐश-आराम का मसाला जुटा देनेवाली सभ्यता (तहज़ीब) हिंसा के बिना न तो क़ायम हो सकती है और न टिक ही सकती है। इन दिखावों या रूपों में संस्कृति का दर्शन करना ही ग़लत है।

१६. सच्ची संस्कृति की बदौलत मानव-परिवार के हर शख़्श का

जीवन सादा, संयमी, मजबूत, मेहनती और साथ-साथ नीरोग, निडर, स्वाभिमानी और मीठा होना चाहिए। यही सर्वोदय (सभी की भलाई) की संस्कृति है। ऐसी संस्कृति का क़ायम होना अहिंसा के द्वारा ही मुमकिन है।

१७. अहिंसक संस्कृति का अभिप्राय (मक़सद) अव्यवस्था, अराजकता या एक-दूसरे से अलग-अलग रहनेवाले जुदे-जुदे गिरोह बनाना नहीं है। वरन् सारे प्राणियों से——यहाँ तक कि जानवरों से भी——एकता करना है। लेकिन इतना काफ़ी नहीं है कि हम अपने मोटे और बड़े-बड़े कामों में ही इस एकता का खयाल करें। वरन् छोटे-से-छोटे जीवों को भी ज़िन्दगी की सहूलियतें देने में हमारा सिद्धान्त प्रकट होना चाहिए। इस ध्येय को निगाह में रखते हुए समय-समय पर केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण (सेण्ट्रलाइज़ेशन और डी-सेण्ट्रलाइज़ेशन) तथा शक्ति-यन्त्र और शरीर-यन्त्र (मशीन-पावर और मैन-पावर) की मर्यादा परिस्थिति के अनुसार खोजनी और ठहरानी चाहिए।

१८. अहिंसा की साधना की सफलता के लिए बहुत-से लोगों के एक संघ का होना लाज़िमी नहीं है। हरएक आदमी के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपने जीवन में उसका अलग प्रयोग करे। उसे ख़ासकर अपने वर्ताव से लोगों को अहिंसा की तरफ़ खींचना चाहिए। मगर इसका यह मतलब नहीं है कि अहिंसा का सेवक लोगों के सहयोग की पर्वाह ही न करे, या कोई संघ बनाना ग़लत ही समझे, या उसका महत्त्व ही न पहचान सके।

१९. सत्याग्रही के लिए अहिंसा परमधर्म ही नहीं, बल्कि स्वधर्म भी है। इसलिए सुख-दुःख, नफ़ा-नुकसान, हार-जीत या मौत भी आ पड़े, तो भी उसे अंगीकार करने से डिगना नहीं चाहिए। ईश्वर, आत्मा या विश्व के तत्त्व का जो ज्ञान तथा अभय, सेवा-वृत्ति, आत्मसम्मान

(खुद्दारी) आदि जो गुण, और प्रार्थना, यम-नियम, प्रेम वग़ैरा जो जीवन-चर्याएँ इस प्रकार की निष्ठा (एतक़ाद) पैदा करें—उन सबका नाम ईश्वरोपासना और श्रद्धा है।

२

अपेक्षित आचार

१. ऊपर कहे हुए आदर्शों और सिद्धान्तों की सफलता के लिए जीवन में जो कुछ परिवर्तन करने की ज़रूरत महसूस हो और उसके लिए जो कुछ कुरबानी करनी पड़े, उस फेर-बदल और कुरबानी के लिए अहिंसा के साधक को हमेशा तैयार रहना चाहिए।

२. अहिंसा के अमल की शुरूआत सबसे पहले उसे अपने व्यक्तिगत जीवन से ही करनी होगी। इसलिए उसके अपने रिश्तेदारों, साथियों, पड़ोसियों और अगल-बगल के समाजों से उसका बर्ताव अहिंसामय ही रहना चाहिए। उन सबसे उसका बर्ताव प्रेम का ही होना चाहिए। और मतभेद होने पर या उनके किसी अन्याय या बुरे काम का मुक़ाबला करने का मौक़ा आने पर उसे अहिंसा से ही काम लेना चाहिए। बल्कि किसी भी साधक को अपने शरीर, धन या इज्ज़त की हिफ़ाज़त के लिए या अपने साथ किये गये अन्याय को दूर करने के लिए दीवानी या फ़ौजदारी अदालतों या पुलिस की मदद नहीं लेनी चाहिए।

३. उसे अपनी या अपनी क़ौम की जान, मिलकियत या इज्ज़त बचाने के लिए अथवा लड़ाई-झगड़ों को दबा देने के लिए हिंसक उपाय काम में लाने का विचार तक नहीं रखना चाहिए। बल्कि अहिंसा के ज़रिये ही इन मसलों को हल करने का रास्ता खोजना चाहिए और ज़रूरत होने पर मौत या दूसरी तरह की आफ़तों की जोखिम भी उठानी चाहिए।

४. व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में जो हिंसा होती है या जिसके होने का अन्देशा रहता है, ऐसी हरएक हिंसा का असली सबब खोजने की वह बराबर कोशिश करता रहेगा। हिंसा के रास्ते जानेवाले या जाने का इरादा करनेवाले पक्ष में जो सचाई होगी, उसे वह खुद क़बूल कर, समाज से कराने की तथा उस पक्ष की शिकायत दूर कराने की कोशिश करेगा। इस तरह समाज को समझाने में अगर वह कामयाब न हुआ, तो हिंसा करने जानेवाले पक्ष से अहिंसक उपाय काम में लाने की प्रार्थना करेगा। अगर फिर भी कामयाबी न हुई, तो दोनों पक्षों के खिलाफ़ मुनासिब ढंग से सत्याग्रह करने का तरीक़ा खोजेगा।

५. लोगों पर जब कोई आफ़त आ पड़े, तो खुद जोखिम उठाकर भी वह आफ़त में पड़े हुए लोगों की मदद करने के लिए दौड़ेगा।

६. इस बात के बाहरी लक्षण के रूप में कि वह इन सब बातों को समझता है, साधक नीचे लिखे नियमों का पालन करता रहेगा:—

(क) उसे अस्पृश्यता, ऊँच-नीच का खयाल और पंक्तिभेद को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए।

(ख) जाति, प्रान्त, सम्प्रदाय (फ़िरक़ा), भाषा आदि सभी तरह के सँकरे दुरभिमानों से उसे बिलकुल बरी रहना चाहिए।

(ग) उसके दिल में सर्व-धर्म-समभाव सहज होना चाहिए।

(घ) स्त्री-पुरुष-व्यवहार और पैसों के मामले में उसका चरित्र शुद्ध होना चाहिए।

(च) उसे नियम से कातना चाहिए, खादीमय होना चाहिए और देहाती दस्तकारियों को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(छ) सार्वजनिक सेवा में और खासकर रचनात्मक कामों में खुद मेहनत और त्याग करके नियमित-रूप से हाथ बँटाना चाहिए।

(ज) उसे सार्वजनिक संस्थाओं में अधिकार की इच्छा छू तक नहीं जानी चाहिए। चढ़ा-ऊपरी या खुशामद आदि से अधिकार प्राप्त करने की कोशिश तो वह हरगिज़ नहीं करेगा और सत्य और अहिंसा के वास्ते चाहे जितनी महत्त्व की जगह छोड़ देने को तैयार रहेगा।

जुलाई, १९४१

: २ :

व्यवहार्य अहिंसा

१

प्रस्तावना

हिंसा और अहिंसा का विवाद अव केवल बौद्धिक चर्चा का ही विपय नहीं रहा, वल्कि यह विषय आज हमारे लिए इतने तात्कालिक और व्यावहारिक महत्त्व का होगया है कि जितना शायद आज तक कभी नहीं हुआ था।

गांधीजी ने जबसे 'सत्याग्रह' के नाम से विख्यात अपनी प्रतिकार-पद्धति का प्रचार किया और उसके सिलसिले में इस अहिंसा शब्द को राजनीति के क्षेत्र में दाखिल किया, तबसे इस प्राचीन शब्द में एक नया अंकुर निकला है। तीस से अधिक वर्षों से गांधीजी अपने लेखों और प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा उसका अर्थ स्पष्ट करने में अपनी शक्ति लगा रहे हैं। फिर भी, हममें से कई लोगों का यह विचार है कि यह विषय या तो इतना वारीक है कि वह मामूली आदमी की समझ से परे है या फिर उसका अमल करना हमारी ताक़त से वाहर है।

दूसरी तरफ़, हिंसा को हम सब समझ सकते हैं। थोड़े में कहें तो, नये अधिकार प्राप्त करने या पुराने हक़ों की हिफ़ाजत करने के लिए हमारी स्वार्थ-वुद्धि हमें जो-जो भले-वुरे उपाय सुझा दे, वे सव हिंसा के क्षेत्र में आ जाते हैं। हमें रात-दिन अपने चारों तरफ़ उसका अत्यन्त भयंकर और पकड़ में ही न आ सकें इतने सूक्ष्म रूपों में भी अनुभव होता रहता है। आज दो वर्षों से यूरोप जोरों से उसके प्रभाव में आया है और उससे दुनिया की—या कम-से-कम हमारी—स्थिति

इतनी गम्भीर हो गयी है कि हमें अपने जीवन की रक्षा के लिए हिंसा और अहिंसा के बीच कुछ-न-कुछ निर्णय करके इस या उस रीति से अपने समाज को तैयार करना ही चाहिए।

परन्तु जबतक हमें हिंसा और अहिंसा की शक्तियों और मर्यादाओं की स्पष्ट कल्पना न हो, तबतक यह निर्णय बुद्धियुक्त नहीं हो सकेगा। इसलिए कुछ मेहनत करके भी दोनों को समझने की कोशिश करना उचित है। इन लेखों में मैंने इस विषय का अपने लिए विचार करने का प्रयत्न किया है। मुझे आशा है कि उससे पाठकों को भी स्वयं विचार करने में मदद मिलेगी।

यह विचार करने में मैंने यह मान लिया है कि जब जीने और मरने का सवाल सामने होता है, तब लाखों लोग अहिंसा की केवल नैतिक श्रेष्ठता के कायल नहीं रह सकते। कारण कि जब सामने संकट मुंह फाड़े खड़ा हो, तब बहुतेरे लोगों का नैतिक सिद्धान्त डावांडोल हो जाता है, और उनका धैर्य तथा मनोबल काफ़ूर हो जाता है।

परन्तु संयोगवश १९३९ के सितम्बर से यूरोप में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई हैं कि जिनके कारण हिंसा-वादियों का भी हिंसा पर से विश्वास डगमगाने लगा है। पारसाल समाचार-पत्रों को दिये हुए एक वक्तव्य में प्रकट हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नीचे लिखे उद्‌गार सभी विचारशील लोगों की मनोदशा व्यक्त करते हैं:—

"......इस लड़ाई और उसके पहले की घटनाओं ने मुझे हिंसा की व्यर्थता जैसी साफ दिखा दी है, वैसी उससे पहले कभी नहीं दिखायी थी। हिंदुस्तान की आज की हालत में किसी बलवान् राज्य से हिंसात्मक साधनों द्वारा हिन्दुस्तान की रक्षा करने की बात तो बिलकुल फ़िज़ूल ही मालूम होती है। कम-से-कम मौजूदा लड़ाई में तो फलोत्पादक रीति से वैसा

करना नामुमकिन है।"[१]

मानस-शास्त्र का यह नियम है कि एक शक्तिशाली वस्तु भी जिसका उसपर से विश्वास उठ गया हो, उसके हाथ में शक्तिदायिनी नहीं हो सकती। जैसा कि वॉन दर गॉल्ज़ ने कहा है, "शत्रु की सेना का नाश करने की बात इतना महत्त्व नहीं रखती, जितना कि उसकी हिम्मत तोड़ने की बात रखती है। अगर दुश्मन के दिल में तुम यह बात जमा सको कि वह हार रहा है, तो तुम्हारी जीत निश्चित है।"[२]

सन्त तुकाराम ने एक अभंग में डरपोक सिपाही की मनोदशा का वर्णन किया है:—

"एक हाथ में ढाल और दूसरे में तलवार है। दोनों हाथ उलझे हुए हैं। अब मैं लड़ाई कैसे करूँ? बदन पर बख्तर और सिर पर टोप तथा कमर में पट्टा लगा हुआ है! यह भी तो मेरी मौत का ही दूसरा निमित्त पैदा हुआ है। तिसपर, इन्होंने मुझे घोड़े पर बिठा दिया है। अब मैं दौड़ूँ और भागूँ भी कैसे? इस प्रकार सारे उपाय मौजूद होते हुए भी यह उन्हें अपाय समझता है और कहता है कि क्या करूँ!"

तात्पर्य यह कि जिस शस्त्र पर से हमारा आत्म-विश्वास उठ गया हो, उसका हम सफल प्रयोग नहीं कर सकते। इसलिए केवल अपने स्वार्थ की खातिर भी हमारे लिए अहिंसा के व्यावहारिक अंगों को ठीक तरह समझ लेना ज़रूरी है।

'क्या हम अहिंसा-शक्ति का इस प्रकार विकास कर सकते हैं, कि जिससे हम अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान, स्वतन्त्रता और जान-माल की ठीक-ठीक रक्षा करते हुए अपना जीवननिर्वाह कर सकने की बुद्धियुक्त

१. 'बाम्बे क्रानिकल' : ता० २३ जून, १९४०।

२. रिचर्ड ग्रेग : 'पॉवर ऑव नॉन-वायोलॅन्स'।

आशा कर सकें ?'

इस सवाल का विचार करना इस लेखमाला का उद्देश्य है।

२

शुद्ध अहिंसा और व्यवहार्य अहिंसा

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, हिंसा को हम सब समझ सकते हैं। जैसे कि द्वेष, बदला, वैर, लड़ाई, क्रूरता, पशुता (हैवानियत), दंगा, जुल्म, बलात्कार, अत्याचार, शोषण वगैरा तरह-तरह की बुराइयों में हिंसा है। इसी तरह हिंसा के ठीक विपरीत शुद्ध अहिंसा के गुण को समझना भी मुश्किल नहीं है। जैसे कि प्रेम, क्षमा, मैत्री, शान्ति, दया, सभ्यता, सरलता, सेवा, रक्षा, दान, उदारता आदि सब प्रकार की भलाई शुद्ध अहिंसा है। यदि एक मनुष्य चाहे तो उसके लिए शुद्ध अहिंसक अर्थात् परोपकारी, उदार, निःस्वार्थ होना असम्भव नहीं है।

परन्तु साफ़ है कि यह स्वभाव जबरदस्ती से नहीं आ सकता। मनुष्य उसे अपनी राजी-खुशी से ही प्रकट कर सकता है। शुद्ध अहिंसा दिखाना और अपने अधिकारों का दावा भी पेश करना—ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। मगर शुद्ध अहिंसक होते हुए भी दुष्कर्म से प्रेम नहीं किया जा सकता। उसकी घृणा तो रहेगी ही। अब गांधीजी जिस अहिंसा को समझाते हैं, उसमें हमारे अधिकार नष्ट करने-वाले की हिंसा किये बिना अपने अधिकारों का दावा पेश करने की एक बीच की पद्धति है। शुद्ध अहिंसा और इस अहिंसा के इस भेद को समझ लेना जरूरी है। इसलिए मैंने इस दूसरी चीज़ को व्यवहार्य (व्यवहार में आने योग्य) अहिंसा का नाम दिया है। देश के राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों के लिए इस प्रकार की व्यवहार्य अहिंसा का क्या अर्थ है, उसकी क्या शर्तें हैं और कितनी शक्ति है, उसके जरिये हमारे मिटे हुए अधिकार

हमें फिर से कैसे प्राप्त होंगे और प्राप्त अधिकारों की रक्षा किस प्रकार होगी—इसकी शोध अगर हम कर सकें, तो काफ़ी है।

क्षणभर के लिए मैं 'शुद्ध अहिंसा' की जगह 'अति-भलाई' और 'हिंसा' की जगह 'बुराई' शब्द लाऊँगा। थोड़ा-सा विचार करने से मालूम होगा कि मनुष्य की ऐसी बीच की स्थिति हो सकती है, जहाँ न तो वह अति-भला होगा और न बुरा ही। अति-भलाई का उद्भव निःस्वार्थता, दूसरे के भले के लिए खुद कष्टसहन करने की वृत्ति में से होता है। संस्कृत में उसे 'परार्थ' कहते हैं। परन्तु हमेशा यह नहीं कहा जा सकता कि एक मनुष्य परार्थ श्रम नहीं करता, इसलिए वह बुरा ही है। बुराई के बिना भी स्वार्थवृत्ति हो सकती है। जैसे मैं अपना खेत या उधार दी हुई रक़म वापस पाने की इच्छा करूँ, तो मैं अति-भला होने के श्रेय का हक़दार नहीं हो सकता; परन्तु यदि कोई मुझपर बुरा होने का आक्षेप लगाये तो, उसे मैं स्वीकार नहीं करूँगा और अपनी चीज वापस पाने की इच्छा में जो स्वार्थ-वृत्ति है, उसे स्वीकार करने में शर्माऊँगा भी नहीं, बल्कि जरूरत होने पर यह भी कहूँगा कि मेरी यह स्वार्थ-वृत्ति न्याय्य और उचित है।

मनुष्य-मनुष्य के बीच टण्टा एक तरफ़ अति-भलाई और दूसरी तरफ बुराई के बीच नहीं होता; वरन् एक तरफ न्याय्य और उचित स्वार्थ-वृत्ति और दूसरी तरफ से अति-बुराई के बीच होता है। इस बुराई में खुल्लम-खुल्ला अन्यायी अथवा न्याय का जामा पहनी हुई स्वार्थ-वृत्ति होती है। अर्थात् न्यायी स्वार्थ और अन्यायी अथवा न्याया-भासी स्वार्थ का कलह होता है। और हमारी खोज का विषय यह है कि बुराई के साधनों का प्रयोग किये बिना अन्यायी स्वार्थों का मुका-बला करके हम अपने न्यायी स्वार्थ किस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं ?

इसकी जो रीति होगी वही व्यवहार्य अहिंसा होगी।

इससे मालूम होगा कि व्यवहार्य अहिंसा में हिंसात्मक उपाय शामिल नहीं हो सकते; अलबत्ता शुद्ध अहिंसा की वृत्तियाँ हो सकती हैं। अथवा यों कह लीजिए कि हर प्रकार की स्वार्थ-वृत्ति में बुराई का होना जरूरी नहीं है और भलाई के अंश का उससे विरोध नहीं है।

इस तरह व्यवहार्य अहिंसा की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की जा सकती है :—

बुराई से रहित और भलाई के अंश से युक्त न्याय्य स्वार्थ-वृत्ति व्यवहार्य अहिंसा है।

यह आदर्श या शुद्ध अहिंसा नहीं है। वह तो अति-भलाई का ही दूसरा नाम है। जिस मनुष्य को अपने अधिकारों की तीव्र वासना हो, और उन्हें प्राप्त करने की उत्सुकता हो, वह अति-भलाई नहीं कर सकता। परन्तु विरोध करते हुए भी वह न्यायी और अहिंसक रह सकता है। विरोध का शमन होने पर उदारता भी दिखा सकता है। विरोध के चालू रहने तक उसकी भलाई की वृत्ति कुछ लुप्त हुई-सी मालूम होगी। परन्तु ऊपर की व्याख्या के अनुसार वह हृदय में तो रहेगी ही।

अब देखना यह है कि एक बलवान शक्ति के रूप में क्या ऐसी व्यवहार्य अहिंसा का संगठन सम्भव है? और अगर सम्भव है, तो उसकी मर्यादा और पद्धति कौन-सी हो सकती है?

३
साधारण आदमी

इस विषय का और आगे विचार करने के पहले कुछ मूलभूत धारणाएँ प्रस्तुत करना आवश्यक है। क्योंकि, अगर इनके विषय में ही मतभेद हो, तो बाकी के विचार को स्वीकार होने में सन्देह रहेगा। मनुष्य-

स्वभाव को जाननेवाले अधिकांश लोग मेरे मन्तव्यों से सहमत होंगे, ऐसा मानकर मैं अपने विचार रखता हूँ।

मेरी राय में मनुष्य-समाज का बहुत बड़ा हिस्सा साधारण रीति से हिंसा और बुराई से घृणा करता है। वह एक हद तक भलाई करना पसन्द करता है, और हमेशा उसके प्रति आदर रखता है। जो प्रजाएँ खेती-बाड़ी और लड़ाई से संबंध न रखनेवाले उद्योग-धन्धों तथा व्यापार में लगी हुई हैं, उनमें यह बहुमति अधिक मात्रा में होती है। जो प्रजाएँ खानाबदोश और लुटेरों की जैसी वृत्ति की हैं और बन्धों तथा शस्त्रों के उद्योगों पर अपना जीवन-निर्वाह करती हैं, उनमें इस बहुमति की मात्रा कुछ कम होती है।

'मनुष्य-समाज का बहुत बड़ा हिस्सा हिंसा से घृणा करता है,' यह कहने से मेरा आशय यह नहीं है कि ये लोग हिंसक आचरण कर ही नहीं सकते; अथवा हिंसक नेता के नेतृत्व में उन्हें हिंसक कार्यों के लिए संगठित करना असंभव है। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि वे कभी स्वेच्छा से तो हिंसा करते ही नहीं। मेरा आशय इतना ही है कि हिंसा की तरफ़ उनका इतना स्वाभाविक झुकाव नहीं होता अथवा अहिंसा से उन्हें इतनी घृणा नहीं होती कि उन्हें दृढ़तापूर्वक हिंसा से दूर रहने की सलाह दी जाने पर भी वे उसे मानने में असमर्थ रहें। इतना ही नहीं, बल्कि मनुष्य-समाज के बहुत बड़े हिस्से को अगर हिंसा तथा बुराई और अहिंसा तथा भलाई में से किसी एक को स्वतंत्रतापूर्वक पसंद करना हो, तो साधारण परिस्थिति में वह अहिंसा और भलाई को ही पसन्द करेगा।

मैं यह नहीं मानता कि यह बात केवल हिन्दुस्तान पर ही लागू होती है, किंतु स्थायी-रूप से बसी हुई सभी देशों की प्रजाओं पर लागू

होती है। सामान्य दुनियादार आदमी को अपने घर, परिवार, मिलकियत और देश तथा देशवासियों से आसक्ति होती है। इन सबका बिलकुल त्याग करने को वह तैयार नहीं होता। इसीलिए उनके लिए लड़ने को भी आमादा (उद्युक्त) होजाता है। यह लड़ाई किस तरह की जाये, यह निश्चित करने का काम वह अपने राजा या नेता को सौंपता है। वह खुद भोला-भाला होता है और अगर उसे योग्य शिक्षा और मार्गदर्शन न मिले, तो बालक और जानवरों की तरह वह स्वयं-प्रेरणा से बिना विचारे हिंसा करने को भी प्रेरित होगा। परन्तु अपने विश्वासपात्र नेता का मार्गदर्शन मानने के लिए वह हमेशा तैयार रहता है और बाबर, शिवाजी या हिटलर जैसे अथवा बुद्ध और गांधी जैसे, दोनों प्रकार के नेताओं का एक ही से उत्साह और सचाई के साथ अनुसरण करता है।

परन्तु प्रत्येक युग और समाज में कुछ असाधारण मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं। उनमें या तो असाधारण बुराई होती है अथवा असाधारण भलाई। भला व्यक्ति सिर्फ़ बहुत भला ही नहीं होता वरन् उसे अति भलाई से आसक्ति हो जाती है, और उसी तरह बुरे व्यक्ति को भी बुराई का चस्का पड़ जाता है। इसके साथ-साथ इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में असाधारण बुद्धि और अपनी बातें लोगों के गले उतारने की अद्भुत शक्ति भी होती है। भलाई का अवतार मनुष्य की सात्विक शक्तियों को प्रोत्साहित करता है तथा दूसरा उसकी स्वार्थ-वृत्तियों को उकसाता है। कुछ लोग सात्विकता की तरफ़ आसानी से झुकते हैं और कुछ लोग बुराई की तरफ़। परन्तु बहुतेरे लोग अस्थिर वृत्ति के होते हैं और कभी इधर को तो कभी उधर को झुकते रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए दोनों वृत्तियाँ तात्कालिक उमंगों जैसी मानी जा सकती हैं।

मनुष्य-स्वभाव पर दोनों में से कोई एक भी स्थायी चिह्न

छोड़ जाती हुई प्रतीत नहीं होती। थोड़ी देर में अतिबुराई की लहर की तरह अति-भलाई की लहर भी शान्त हो जाती है। अन्तर इतना ही होता है कि बुराई की अपेक्षा भलाई के युग की स्मृति विशेष अभिमान और आदर से ताजा रक्खी जाती है। तिसपर भी आश्चर्य यह है कि दोनों प्रकार के नेताओं की स्मृति जनता एक ही से आदर और पवित्रता से रखती हुई मालूम पड़ती है। परन्तु भलाई के युग के लिए विशेष प्रेम और आदर, तथा उसे फिर से पाने की आकांक्षा के आधार पर इतना कह सकते हैं कि सामान्य मनुष्य साधारण रीति से हिंसा और बुराई से घृणा करता है और अहिंसा और भलाई की तरफ़ उसका झुकाव होता है।

४

सामुदायिक भलाई तथा हिंसा के लक्षण

अब एक क़दम आगे बढ़ें।

मनुष्यों के बहुत बड़े भाग का झुकाव भलाई की तरफ़ होता है। इतना ही नहीं, उनमें उस झुकाव के कुछ विशेष लक्षण भी होते हैं। उदाहरण के लिए, जहां नेताओं ने कृत्रिम रीति से लोगों की भावनाओं को उत्तेजित न किया हो, वहाँ प्रजा प्रायः पास के शत्रु की अपेक्षा दूर के शत्रु के लिए विशेष उदार वृत्ति रखती है, चाहे वास्तव में उस दूर के विरोधी से उसे अधिक नुक़सान क्यों न पहुँचता हो। और—बात चाहे कुछ विचित्र-सी भले ही हो—लोग दुर्बल और गुप्त शत्रु की अपेक्षा ज़बरदस्त और प्रकट शत्रु के प्रति विशेष सद्‌भाव रखते हैं। उदाहरण के लिए, बहादुर-से-बहादुर लुटेरा भी लोगों को उतना कष्ट नहीं दे सकेगा, जितना कष्ट और त्रास अनेक यूरोपीय देशों को नेपोलियन ने पहुँचाया था। फिर भी, जब वह हार गया तो आम जनता

को ऐसा नहीं लगता था कि इसे मृत्यु-दण्ड देना चाहिए। कल अगर हिटलर की भी नेपोलियन की जैसी दुर्दशा हो जाये, तो मैं समझता हूँ कि लोग उसके लिए भी ऐसा ही उदार भाव रक्खेंगे। ऐसे मौक़े पर विरोधी राजनैतिक नेता भी शायद इसी प्रकार का निर्णय करेंगे। परन्तु जहाँ इनके निर्णय के पीछे राजनैतिक दृष्टि हो सकती है, वहाँ लोग, राजनैतिक दृष्टि से नहीं, बल्कि बलवान शत्रु के लिए प्रामाणिक आदर के कारण, ऐसी ही धारणा रख सकते हैं। परन्तु यदि कहीं उन्हीं लोगों के हाथ उनके गाँव पर धावा बोलनेवाले लुटेरों के गिरोह का सरदार लग जाये, तो उसे यन्त्रणाएँ दे-देकर मार डालने में वे न हिचकेंगे।

शान्त चित्त से विचार किया जाये, तो लुटेरों के सरदार द्वारा किया गया नुक़सान या अत्याचार नेपोलियन या हिटलर के अत्याचार के मुक़ाबले में बिलकुल तुच्छ है। परन्तु लोक-समूह की भलाई और हिंसा में इस प्रकार का विरोध होता है। कारण यह है कि जब नेपोलियन-जैसे शत्रु से युद्ध हो रहा हो, तब भी लोक-दृष्टि में लुटेरों की अपेक्षा वह अधिक दूर का, अधिक ज़बरदस्त और अधिक प्रकट शत्रु प्रतीत होता है और यह बात उनके आदर का पात्र बन जाती है।

इसी कारण देश के विरोधी राजनैतिक दलों की अपेक्षा अंग्रेज़ और उनके नौकर तथा मुलाज़िमों के लिए लोगों के दिल में कम द्वेष है और विरोधी दलों में भी स्थानीय नेताओं की अपेक्षा मुख्य नेताओं से कम द्वेष होता है। हालाँकि अगर वे बुद्धि से विचार करें, तो समझ सकते हैं कि उनका मुख्य विरोध तो अंग्रेजों अथवा विरोधी दलों के मुख्य नेताओं से ही होना चाहिए। परन्तु मुख्य नेता की अपेक्षा स्थानीय कार्यकर्त्ता अधिक नज़दीक हैं और अंग्रेज़ों की अपेक्षा राजनैतिक विरोधी

दल अधिक निकट हैं। इसीलिए धारणा की तीव्रता में अन्तर पड़ जाता है।

और फिर अधिकतर लोग ख़ून, अत्याचार, बलात्कार, लूट-खसोट जैसी स्थूल हिंसा को जिस प्रकार समझ सकते हैं, उसी प्रकार वे व्यसन, विलास और शोषक अर्थ-नीति आदि के द्वारा की जानेवाली सूक्ष्म हिंसा को नहीं समझ सकते। इसलिए वे दूसरे प्रकार की हिंसा के प्रति क्षमा या उपेक्षा-वृत्ति रखने के अधिक आदी और इच्छुक होते हैं। परन्तु पहली प्रकार की हिंसा से अधिक उत्तेजित होते हैं। इसी कारण वे किसी खास अन्याय या कठिनाई का विरोध करने के लिए जितनी आसानी से तैयार हो जाते हैं उतनी आसानी से सूक्ष्म रूप में होनेवाले अन्यायों अथवा बुद्धि-प्रयोग से ही समझ में आनेवाले अधिकारों के लिए तैयार नहीं हो सकते। विदेशी राज्य से होनेवाला नुकसान इतना गुप्त है और उसमें इतनी ललचानेवाली बातें मिली हुई हैं कि लोग यह आसानी से जान ही नहीं पाते कि उस राज्य से कोई वास्तविक जीवनस्पर्शी और असहनीय हानि हो रही है। हमारे जैसे देश में यह बात विशेष मात्रा में होती है; क्योंकि हमारे देश के हरएक विजेता ने देश के प्रजाजनों से सम्बन्ध रखनेवाला कारोबार देश के आदमियों द्वारा ही हमेशा चलाया है। ऐसी बात नहीं है कि लोग स्वराज की लड़ाई को बुद्धि से भी न समझ सकते हों; परन्तु यह इतनी धुंधली होती है कि उसकी बदौलत उनके भीतर स्वराज के लिए तीव्र जोश उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त जनता के स्वाभाविक अहिंसक झुकाव के कारण केवल स्वदेशी सरकार की अपेक्षा स्थिर और व्यवस्थित राज्य के लिए उसे अधिक आदर होता है।

सारांश यह कि आन्तरिक राज्यक्रान्ति के लिए लोकमत हिंसक साधनों की अपेक्षा अहिंसक साधनों के पक्ष में ही पूरी तरह होता है।

इसी कारण हिन्दुस्तान के लोगों ने चाहे अब-तब राजनैतिक अत्याचारियों और क्रान्तिकारियों की थोड़ी-बहुत वाह-वाही भले ही की हो, तो भी उनकी महत्त्वपूर्ण मदद नहीं की। मैं यह नहीं मानता कि यह हिन्दुस्तान की ही विशेषता है। मैं समझता हूँ कि किसी दूसरे देश में भी इसी प्रकार की परिस्थिति में ऐसा ही होगा।

५

दो बुनियादी संस्कृतियाँ

लोक-समूह की अहिंसक प्रवृत्ति के विषय में मैं जो कुछ कह चुका हूँ, वह मेरी समझ में समग्र मानव-जाति के विषय में भी सच है। वह किसी खास देश, जाति या धर्म की विशेषता नहीं है। मेरे नम्र मत से राजधर्म तथा शत्रुओं और गुनहगारों के प्रति जो वृत्ति दूसरे धर्म और राष्ट्र धारण करते हैं, उससे वैदिक धर्म का शिक्षण अथवा साधारण हिन्दू का रुख कोई विशेष भिन्न प्रकार का नहीं होता। दूसरे धर्मों की तरह हिन्दू राजनीति-शास्त्र के अनुसार भी दण्ड अथवा, वर्तमान परिभाषा में कहें तो, लाठी ही राजसत्ता का चिन्ह है। महाभारत और रामायण पढ़ने से मेरे दिल पर जो संस्कार हुए हैं, वे अगर ग़लत न हों, तो धर्म-राज अथवा राम-राज में भी सख्ती के साथ राज-दण्ड का प्रयोग—अलबत्ता, आजकल की भाषा में, 'क़ानून और व्यवस्था की रक्षा के लिए'—आवश्यक है। मैं नहीं समझता कि यहूदी, ईसाई या इस्लाम-धर्म के शिक्षण से हिन्दू-धर्म का शिक्षण भिन्न प्रकार का है।

परन्तु इन विचारों के साथ-साथ हरएक धर्म ने एक दूसरे प्रकार की भी संस्कृति का विकास किया है। मैं उसे 'सन्त-संस्कृति' कहता हूँ और पहले प्रकार की संस्कृति को, इससे अलग पहचानने के लिए, 'भद्र संस्कृति' कहता हूँ। मेरा यह आशय नहीं है कि भद्र संस्कृति

दुष्ट, शैतानी या हिंसा-युक्त ही होती है; बल्कि यह भी मानना होगा कि दुनिया की बड़ी-बड़ी प्रजाओं की जो जगमगाती अमलदारियाँ हैं, वे उसीकी बदौलत हैं। भद्र संस्कृति ने अनेक बड़े-बड़े कार्य और पराक्रम किये हैं : भव्य स्मारक खड़े किये हैं; अमर साहित्य का निर्माण किया है और विज्ञान तथा कला का विकास किया है; मनुष्य में छिपी हुई सृजन और अभिव्यक्ति की अद्‌भुत और अपार शक्तियों के विकास में उसका बहुत बड़ा हाथ रहा है। परन्तु, जहाँ देखिए वहाँ, भद्र संस्कृति हमेशा वंश, जाति, धन, सत्ता, विद्या, धर्म आदि के अभिमान पर ही ठहरी होती है और उसके साथ यह अभिमान कि हम श्रेष्ठ लोग हैं, हमेशा पनपता है। हिन्दू-धर्म में या दूसरे किसी धर्म में भी उसने हिंसा का सम्पूर्ण निषेध नहीं किया है।

हिंसा और बुराई का निषेध करने का काम तो हरएक देश की सन्त-संस्कृति ने ही किया है और हरएक देश की सन्त-संस्कृति के संस्थापक अक्सर सामान्य जनता में से ही उत्पन्न हुए हों, तो भी वे साधारण जनता के साथ एकरूप हुए दिखायी देंगे। मनुष्य-मनुष्य के बीच की उच्ची-नीची श्रेणियाँ अचल हैं—और रहनी चाहिएँ—यह भद्र-संस्कृति का सिद्धान्त है और ये सारी श्रेणियाँ नष्ट होनी चाहिएँ—यह सन्त-संस्कृति का सिद्धान्त है। उनके नाश के लिए सन्त हिंसा या जबरदस्ती से काम नहीं लेते; बल्कि अहिंसा या भलाई के साधनों का ही प्रयोग करते हैं।

हरएक समाज में ये दोनों संस्कृतियाँ साथ-साथ ही प्रवर्तित हुई मालूम होती हैं। सामान्य समाज एक तरफ़ से भद्र संस्कृति के अधीन होकर रहता है और चुपचाप उसके पीछे जाता है और साथ-ही-साथ सन्त-संस्कृति की पूजा करता है तथा अपनी शक्ति के अनुसार उसे अपने जीवन में चरितार्थ करने की श्रद्धापूर्वक कोशिश करता है।

जब-जब सन्तों का विरोध हुआ है या उन्हें सताया गया है, तब-तब उसके लिए भद्र संस्कृति ही सर्वथा उत्तरदायी रही है। परन्तु कुछ समय के बाद भद्र संस्कृति के अभिभावक इतना विनय दिखाते हैं कि वे सन्तों की वाह्यतः पूजा करने में जनता का साथ देते हैं।

इस सारे विवेचन का सार यही निकलता है कि सामान्य जनसमूह को आमतौर पर हिंसा और बुराई से घृणा है और भलाई की तरफ उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है तथा सन्त-संस्कृति का मुक़ाबला करने के लिए भद्र संस्कृति के पास सिवा बल के और कोई दलील नहीं है।

: ६

हिन्दुस्तान की विशेष परिस्थिति

उपरिनिर्दिष्ट सामान्य मन्तव्यों में हिन्दुस्तान की परिस्थिति की कुछ खास बातें और जोड़ देनी चाहिएँ :—

(१) यह सच है कि हिन्दू-धर्म की भी भद्र संस्कृति में हिंसा और लड़ाई का निषेध नहीं है। परन्तु हिन्दू-समाज का चार बड़े-बड़े वर्गों में विभाजन एक विशेष वस्तु है। उसके कारण हिंसा और लड़ाई हिन्दू-समाज के एक बहुत छोटे अंश का वंश-परम्परागत धन्धा बन गया। अंग्रेज़-सरकार ने हिन्दुस्तान की जो हालत कर दी है, उसी प्रकार की घटना हिन्दू-काल में हुई होती, तो ऐसा कहा जा सकता कि हिन्दू-समाज के शासन-कर्ताओं ने शताब्दियों पहले सिपाहीगिरी को एक ही वर्ण का परम्परागत धन्धा क़रार देकर हिन्दुओं के बड़े हिस्से को निःशस्त्र बना दिया था। यद्यपि वास्तव में वैसा नहीं हुआ है, तथापि दोनों का परिणाम एक ही है। वर्ण-व्यवस्था ने जो बात अंशतः और अधूरे रूप में की, वही अंग्रेज-सरकार ने पूरी और पक्की कर दी है। उसने सारी की सारी प्रजा को निःशस्त्र कर दिया है।

निःशस्त्रीकरण की इस प्रवृत्ति का हिन्दू-धर्म की सन्त-संस्कृति ने कभी-कभी मूकभाव से ही क्यों न हो, स्वागत ही किया है। आजतक बौद्ध, जैन, वैष्णव, लिंगायत और दूसरे सन्तों द्वारा स्थापित बहुत से सम्प्रदायों का हिन्दू-धर्म में निर्माण हुआ है। उनमें से कुछ एक निःशेष हो गये, और कुछ अबतक विद्यमान हैं। उन सबका उद्देश्य अपनी अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार समानता, अहिंसा और न्याय के सिद्धान्तों पर प्रस्थापित संस्कृति का प्रचार करना है। उनके उपदेशों ने सिर्फ लड़ाई से ही नहीं बल्कि दूसरे प्राणियों की हिंसा और मांसाहार से भी घृणा का संस्कार पैदा किया है। हिन्दुस्तान ही एकमात्र ऐसा देश है जहाँ लाखों लोगों ने मांसाहार का त्याग किया है और सैकड़ों आदमी साँप को भी नहीं मारेंगे।

मतलब यह कि हिन्दुस्तान की स्थिति नीचे लिखे अनुसार है:—

समाज-व्यवस्था ने हिन्दू-समाज के बहुत बड़े हिस्से को निःशस्त्र कर दिया है।

सन्त-संस्कृति ने लड़नेवाली जातियों के भी कई लोगों से इच्छापूर्वक शस्त्र-त्याग कराया है। वे एक तरह के अयुद्धवादी[1] बन गये। यह परिवर्तन भी कई सदियों से होता आया है।

---

१. हमारे जैन, वैष्णव प्रभृति अहिंसा-धर्मियों को मैंने जानबूझकर 'एक प्रकार के अयुद्धवादी' कहा है। उनकी अहिंसा स्वयं किसी की जान न लेने अथवा दूसरे जीवों के प्राण बचाने तक ही मर्यादित है। वह जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त नहीं है। लड़ाई के लिए उपयोगी व्यापार या उद्योगों में भाग न लेने की या अप्रत्यक्ष रीति से भी लड़ाई में मदद न देने की हद तक वह बढ़ी नहीं है। सैकड़ों क्षत्रियवर्गों ने स्वेच्छा से और विचारपूर्वक शस्त्रों को त्यागकर अहिंसक उद्योग-धन्धों को स्वीकार किया, वह बेशक अयुद्धवाद की दिशा में एक बड़ा क़दम माना जा सकता है।

राज्य-व्यवस्था ने हिन्दू और अहिन्दू सारी प्रजा को क़रीब सौ वर्षों से लगभग निःशस्त्र कर डाला है।

देश की आर्थिक व्यवस्था ने इससे भी बड़े हिस्से को, या यों कह लीजिए कि सारी आबादी के बहुत बड़े हिस्से की, यह हालत कर डाली है कि उसे शस्त्रों की कोई ज़रूरत ही नहीं रही; क्योंकि उनके पास ऐसी कोई निजी मिलकियत ही नहीं रही है, जिसे शत्रुओं या लुटेरों से बचाने की उन्हें चिन्ता रहे।

(२) हिन्दुस्तान की परिस्थिति में दूसरी खास बात यह है कि हमारा देश बहुत ही बड़ा है, याने रूस को छोड़कर शेष यूरोप के बराबर। प्राचीन काल में उसे देश के बदले यूरोप की तरह खण्ड ही कहते थे। इसके संस्कृत नाम—भारतवर्ष, भरतखण्ड, आर्यावर्त आदि खण्ड-सूचक हैं। आज हम जिन्हें प्रान्त कहते हैं, उनकी गिनती जुदे-जुदे राष्ट्रों में हुआ करती थी। परन्तु कुछ समय के बाद—और अब उसे भी हजारों वर्ष बीत गये हैं—एक ही प्रकार की संस्कृति के प्रचार के कारण वह खण्ड के बदले एक ही देश बन गया और उसमें बसनेवाले सभी लोगों की एकमात्र मातृभूमि माना जाने लगा। उनमें आपस में झगड़े-टण्टे भले ही होते रहते हों, भिन्न-भिन्न भागों की उन्नति और अवनति के रंग भले ही बदलते रहते हों, जाति, धर्म, भाषा इत्यादि की गुत्थियाँ भले ही उपस्थित होती रहती हों, परन्तु तो भी भारतवासियों और विदेशियों के चित्त पर यह संस्कार पक्का जम गया है कि वह अनेक देशों का समूह नहीं है, बल्कि एक ही अखण्ड भौगोलिक प्रदेश है। इतना ही नहीं, यह संस्कार प्रकारान्तर से भी पक्का हुआ। अर्थात् विदेशी विजेताओं ने भी एक बार हिन्दुस्तान में आकर बसने के बाद थोड़े ही समय के पश्चात् हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर

के प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाने या बनाये रखने की ज्यादा उत्सुकता नहीं दिखलायी। अधिक-से-अधिक अफ़ग़ानिस्तान तक हिन्दुस्तान की हद मानी जाती थी। हिन्दुस्तान में साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषा करनेवालों के लोभ की मर्यादा इससे आगे क्वचित् ही बढ़ी है।

(३) तीसरी बात हिन्दुस्तान की लोक-संख्या है। हमारे देश की आबादी घनी है। यह सम्भव नहीं है कि साम्राज्य-लोभी देश हमारे देश में अपना राज क़ायम कर अपने देशवासियों को यहाँ लाकर बसायें। हमारे देश पर सदा के लिए अपना प्रभुत्व बनाये रखने की उनकी आकांक्षा के पीछे इस देश की साधन-सामग्री और हमारी प्रजा की मेहनत से अनुचित लाभ उठाने का हेतु ही हो सकता है।

(४) चौथी बात यह है कि अगर हिन्दुस्तान युद्धवादी बन जाये, तो भी वर्तमान युद्ध के दौरान में तो उसके लिए परिणामकारक रीति से शस्त्र-सज्ज होना असम्भव है। भविष्य में भी वह विदेशी धन और निष्णातों की मदद से ही पारंगत होने की आशा कर सकता है। लेकिन इस प्रकार तैयार होने की शर्तें इतनी कड़ी होने की संभावना है कि उनके बोझ के नीचे हिन्दुस्तान दब जाये और उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता नाम मात्र की ही रह जाये। सहायता करनेवालों की नीयत हिन्दुस्तान को पैसों से खरीदने की रहेगी।

सारांश

इस सारी वस्तु-स्थिति से यह सार निकलता है कि—

(१) इच्छा या अनिच्छा से निःशस्त्रीकरण की दिशा में हम इतने अधिक आगे बढ़ गये हैं कि अब तो हमें अपनी वर्तमान परिस्थिति में से ही जीवन और समृद्धि का मार्ग खोजना चाहिए। जिस शस्त्र-वृद्धि

की नीति का हम संसार से त्याग कराना चाहते हैं, उसी का अनुसरण करना हमारे लिए निरर्थक होगा। हम अपनी इतनी विशालता और घनी बस्ती के बावजूद भी अगर शस्त्रास्त्रों के बिना अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की आशा नहीं कर सकते, तो हमें सीधे-सीधे यह क़बूल कर लेना चाहिए कि निःशस्त्रीकरण का आदर्श मूर्खतापूर्ण और भयावह है।

(२) इसके अलावा उपर्युक्त वस्तुस्थिति से ही प्रकट है कि हमारे अपने देशी सिपाहियों की भरपूर सहायता के बिना कोई भी आक्रमण-कारी हमारे देश के किसी भी हिस्से पर हमेशा के लिए कब्जा नहीं कर सकता।

(३) उसी प्रकार कोई भी विदेशी सत्ता रोज़मर्रा के कारोबार में साधारण जनता के नित्य सहयोग के बिना एक दिन के लिए भी राज नहीं कर सकती। और

(४) कोई भी विदेशी सत्ता चाहे वह कितना भी यन्त्रीकरण क्यों न करे, हमारे देश की मज़दूरी की सहायता के बिना हमारे देश की साधन-सामग्री का उपयोग नहीं कर सकती।

(५) इसलिए हिन्दुस्तान अगर असहयोग की नीति पर पूरा-पूरा अमल कर सके, तो अपनी रक्षा के लिए वह उँगली भी न उठावे, तो भी कोई विदेशी सत्ता उसपर कब्जा नहीं कर सकती।

यह किस दर्जे तक सम्भव है, इसका विचार आगे किया जायेगा। यहाँ तो इतना ही कह देना काफी है कि अगर हम पूरी तरह और सन्तोषजनक रीति से अहिंसात्मक तन्त्र का संगठन न कर सके, तो भी याद रहे कि हमारा हिंसकतन्त्र भी अत्यन्त निर्बल और हमारी अपनी दृष्टि से भयकारक रहेगा; क्योंकि अहिंसक तन्त्र की अपेक्षा हिंसक तन्त्र के लिए अत्यन्त मज़बूत आन्तरिक संगठन कहीं अधिक आवश्यक है।

ऐसे संगठन के विना जो सैनिक-आयोजन होगा, वह देश को स्वतन्त्र करने या रखने के बदले उसे भीतरी कलहों और अव्यवस्था में तथा बाहर के राज्यों के साथ षड्यन्त्रों और साजिशों में उलझाये रखने में ज्यादा व्यस्त रहेगा। पिछले हजार से अधिक वर्षों का हमारा यही अनुभव है। चीन का भी यही अनुभव है। इसलिए, जहाँतक मुझे स्मरण है, स्वतन्त्र चीन के पिता डॉ० सुन-यात-सेन का कथन था कि अंग्रेजी राज के कारण चीन की अपेक्षा हिन्दुस्तान की हालत कई तरह से बेहतर है क्योंकि हिन्दुस्तान को सिर्फ एक ही विदेशी सत्ता से लड़ना है; परन्तु (उनके जमाने में) चीन कहने को तो स्वतन्त्र राज्य माना जाता था, लेकिन दरअसल वह अनेक विदेशी मालिकों के कब्जे में था।

७

आक्रमण और अराजकता

हिन्दुस्तान को किसी विदेशी सत्ता द्वारा सदा के लिए जीते जाने से बचाने का अहिंसक संगठन ही एकमात्र उपाय है, यह मैंने अबतक बतलाया। अगर अहिंसा यह करने में सफल न हुई, तो हिंसा के सफल होने की आशा और भी कम है।

परन्तु यहाँ एक सवाल पूछा जा सकता है : 'महमूद ग़ज़नवी, अहमदशाह अब्दाली या बाबर ने हिन्दुस्तान पर जिस प्रकार के आक्रमण किये, वैसे आक्रमणों से क्या अहिंसा उसे भविष्य में बचा सकेगी? अथवा शिवाजी ने जिस प्रकार सूरत को लूटा या नादिरशाह ने देहली को लूटा, उसी प्रकार कोई आक्रमणकारी थोड़े दिन के लिए बम्बई, कलकत्ते और देहली पर कब्जा कर ले और वहाँ के बैंकों, भण्डारों तथा गोदामों और लखपतियों को लूटना शुरू कर दे, तो क्या अहिंसा से उसका प्रतिकार हो सकता है ?'

इसके जवाब में मैं कहूँगा कि सिद्धान्त की दृष्टि से यह मानना ही पड़ेगा कि सम्पूर्ण अथवा आदर्श अहिंसा में इस प्रकार की शक्ति है। परन्तु हम यहाँ इस प्रकार की आदर्श अहिंसा का विचार नहीं कर रहे हैं; व्यवहार्य अहिंसा का ही विचार कर रहे हैं। इसलिए मुझे क़बूल करना चाहिए कि इस प्रकार की अहिंसा में ऐसे आक्रमणों को संपूर्ण रीति से रोकने की सम्भावना हम मानें, तो भी वह बहुत दूर की मानी जायेगी। परन्तु इतना कहा जा सकता है कि अगर हम सुव्यवस्थित, निष्ठावान और वीरतापूर्ण व्यवहार्य अहिंसा का संगठन कर सकें, तो इस प्रकार की चढ़ाई के सिलसिले में जो क़त्ल, जुल्म, सम्पत्ति का सरे-आम विध्वंस और दूसरे फौजी उपद्रव आम तौर पर हुआ करते हैं, उनके परिणाम और प्रकार कम होने का अच्छा सम्भव रहेगा। इससे कई गुना ज्यादा यह भी सम्भव है कि ऐसी अहिंसा के फल-स्वरूप आक्रमणकारियों में से कुछ के हृदय में पश्चात्ताप और शर्म की भावना पैदा हो। और इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार की अहिंसक बहादुरी इतिहास में अमर कीर्ति छोड़ जायेगी। हिंसक प्रतिकार में भी इससे ज्यादा आश्वासन नहीं मिलता। हिंसा में कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक हानि होती ही है। वह अहिंसक वीरता में नहीं होती। परन्तु यदि आप यह कहें कि अहिंसा जब किसी भी प्रकार का भौतिक नुकसान न होने देने का आश्वासन दे सकेगी, तभी हम उसकी शक्ति सच्ची मानेंगे, तो मुझे कहना होगा कि हिंसक प्रतिकार में भी तो इस प्रकार का कोई आश्वासन नहीं दिया जा सकता। इसलिए अहिंसा पर ऐसी शर्त लगाना उचित नहीं है। निश्चयपूर्वक तो इतना ही कहा जा सकता है कि असफल हिंसक प्रतिकार से होनेवाली जान-माल की हानि की अपेक्षा अहिंसक प्रतिकार से होनेवाला नुकसान कभी भी कम ही रहेगा।

विदेशी के आक्रमण या चढ़ाई का सामना अहिंसा से जिस प्रकार किया जा सकता है उसी प्रकार किसी पड़ोसी देशी नरेश या लुटेरे के हमले का भी किया जा सकता है। लेकिन---चाहे सुनने में बात कुछ विपरीत लगे तो भी---पहले की अपेक्षा यह दूसरा काम अधिक मुश्किल है। कारण कि देशी नरेश या लुटेरे की चढ़ाई सैनिक आक्रमण के रूप की होते हुए भी वास्तव में वह हमारी भीतरी लड़ाइयों अथवा गुनाहों की कोटि की ही होती है। इस प्रकार की चढ़ाई किस दिन और किस तरफ़ से होगी, इसका कोई ठिकाना नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी चेतावनी हमें मिलेगी ही। उसमें शामिल होनेवाले लोग हमारे ही देश के होते हैं। इस तरह के हुल्लड़ का यही अर्थ है कि हमारे घर ही में भीतरी फूट है और हमारे समाज-शरीर में किसी रोग ने घर कर लिया है। यह रोग चाहे निरंकुश स्वार्थ-वृत्ति का हो, अत्यन्त दरिद्रता का हो या किसी अन्याय-जनित वैर-वृत्ति का हो, है वह भीतरी रोग ही; बाहरी आघात नहीं।

आज जो हमारी परिस्थिति है, उसे देखते हुए देशी राज्यों के आक्रमण की चर्चा करना व्यर्थ है। इतना कहना काफी है कि अगर ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाये, तो विदेशियों का सामना जिन अहिंसक उपायों से किया जायेगा, उन्हीं अहिंसक उपायों का और रियासती जनता अपनी रियासत में प्रातिनिधिक राजतन्त्र प्राप्त करने के लिए जो उपाय काम में लायेगी उन सब उपायों का प्रयोग करना होगा।

लुटेरों और डाका डालनेवालों के प्रश्न को दूसरी रीति से हल करना पड़ेगा। व्यवहार्य अहिंसा में यह नहीं माना गया है कि साधारण पुलिस और उसके साधारण हथियार भी नहीं रहेंगे। इसलिए मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि पुलिस का ज्यादा प्रबंध करना

पड़ेगा। साधारण चोरियों का बन्दोवस्त करने के लिए यह पर्याप्त माना जा सकता है; परन्तु बड़ी-बड़ी शस्त्रधारी टोलियों का मुक़ाविला करने में उनका ज्यादा उपयोग न होगा।

लेकिन, पुलिस के कामों में एक दूसरे तरह के काम का भी समावेश होना चाहिए। पुलिस का असली काम यह होना चाहिए कि अपराधों को होने ही न दे। परन्तु वर्तमान प्रणाली में पुलिस गुनाहों को रोक नहीं सकती; सिर्फ गुनाहगारों पर निगरानी रखती है और गुनाहों के हो जाने पर गुनहगार की तलाश करके उसे गिरफ्तार करने और सजा दिलाने की कोशिश करती है। गुनाहों को रोकने के लिए तो उनके कारणों का अध्ययन होना चाहिए और उन्हें हटाने की कोशिश होनी चाहिए : 'क्या भुखमरापन या दूसरे किसी तरह का कष्ट है? अथवा क्या क़ानूनी मार्ग से अपना पुरुषार्थ प्रकट करने की सुविधा का अभाव है? वैर है? वास्तविक या काल्पनिक अन्याय को दूर कराने में असफल होने के कारण निराशा है? धार्मिक जनून है? वंश या जाति से सम्बन्ध रखनेवाली कोई लड़ाई है?'—इन सब बातों की छान-बीन करनी चाहिए।

परन्तु साधारण पुलिस के कार्यक्रम में इन बातों का स्थान नहीं होता। ये तो रचनात्मक कार्यक्रम की धाराएँ हैं। इस तरफ राजतन्त्र या ग़ैर-सरकारी संस्थाओं ने अबतक पूरा-पूरा ध्यान नहीं दिया है। इसलिए अराजकता के वक्त कुछ-न-कुछ दण्ड तो भुगतना ही पड़ेगा। धनिक लोग अपनी माल-मिलकियत की रक्षा के लिए पठानों या लठैतों को रखने के बदले अगर रचनात्मक कार्यक्रम को उदारता से सहायता दें और अपने आसामियों, काश्तकारों, मजदूरों, नौकरों तथा ग़रीब लोगों के साथ उदारता का व्यवहार करें और उनके जीवन में अधिक समभाव

से दिलचस्पी लेने लगें, तो यह दण्ड उस अंश में कम हो जायेगा। भलाई का वदला तुरन्त ही भलाई के रूप में नहीं दिखायी देता। खास कर जब भलाई लाभ-हानि का हिसाब करके या भय के कारण की जाती हो, तब उसके तात्कालिक फल-स्वरूप सामनेवाला ज्यादा गुंडा भी हो सकता है। लेकिन उसका यह रुख देर तक टिक नहीं सकता। आखिर में तो न्याय-व्यवहार के फलस्वरूप प्रेममय संबंध ही क़ायम होते हैं। और व्यवहार्य अहिंसा में अपने तथा पराये लोगों के साथ न्याय-पूर्ण तथा उदार व्यवहार की ज़रूरत तो है ही।

८

अहिंसक संगठन की सम्भावना और कठिनाइयाँ

अब अहिंसक संगठन की सम्भावना तथा कठिनाइयों पर विचार करें।

इस विषय में हमारे हक़ में एक बड़ी बात यह है कि कई युगों की आदत से हममें असहयोग का संगठन करने की लगभग जन्म-सिद्ध कुशलता आगयी है। असहयोग का विचार करते समय हम ऐसा आत्म-विश्वास महसूस करते हैं कि वह आला दर्जे की युक्ति है। हमने असह-योग के हथियार का उपयोग बहुत दफ़ा किया है—कभी तलवार के तौर पर, तो कभी ढाल के तौर पर; कभी वैर-वृत्ति से, तो कभी सत्याग्रह-वृत्ति से। बहिष्कार की कठोर-से-कठोर रीति के प्रयोग से हमने हरिजनों को कैसे कुचल डाला है, इसका उदाहरण तो आज भी हमारी आँखों के सामने मौजूद है। वह असहयोग का ही एक उग्र रूप है। हरिजनों के खिलाफ़ इस हथियार का उपयोग करके इतनी सदियाँ गुजर गयी हैं कि किन गुनाहों के लिए उनपर यह शस्त्र चलाया गया था, यह भी आज हम जानते नहीं हैं। सम्भव है कि किसी कारणवश उनका कड़ा बहि-ष्कार किया गया हो और उसके फलस्वरूप उन्हें उनके आज के नीच

माने गये धन्धे ही सर्वनाश से बचने के उपाय प्रतीत हुए हों। अस्पृश्यता तो उस बहिष्कार का सौम्य-से-सौम्य रूप माना जा सकता है। अस्पृश्य व्यक्ति की छाया का भी स्पर्श न हो और वह नज़र के सामने भी न आये, इस हदतक वह कहीं-कहीं पहुँचा। जिस प्रकार जाति की रूढ़ि के उल्लंघन के लिए कभी-कभी व्यक्तियों या कुटुम्बों को जाति से बाहर कर दिया जाता है, उसी प्रकार अगर यह अहिंसक वृत्ति से किया गया होता, तो ज़रूरत ख़तम हो जाने पर हटा लिया जाता। हमारी अनेक जातियाँ, उपजातियाँ आदि असहयोग के शस्त्र के ही उचित या अनुचित प्रयोग में से उपजी हैं।

मुसलमान इस देश में विजेताओं और धर्मपरिवर्तन करानेवालों के रूप में आये, तोभी उन्हें हिन्दुओं की असहयोग क़ायम करने की शक्ति सहन नहीं हुई। जो हिन्दू डर या लाभ के लालच के अधीन हुआ, उसे हिन्दू-समाज ने अपने रास्ते जाने दिया, परन्तु उससे सब तरह का सामाजिक बन्धन तोड़ दिया गया। प्रत्यक्ष हिंसा किये बिना असहयोग की मर्यादा में रहकर जिस मात्रा में हो सका, उस मात्रा तक खुद विजेता जातियों को भी समाज से बहिष्कृत रखा गया। राणा प्रतापसिंह और मानसिंह का दुःखपूर्ण झगड़ा--जिसके कारण अकबर से वर्षों लड़ाई ठनी--एक तरफ़ विधर्मी विजेता का सम्पूर्ण बहिष्कार करने की और दूसरी तरफ़ उनसे मेल करने की वृत्तियों के कलह का उदाहरण है। मानसिंह ने अकबर के साथ विवाह-सम्बन्ध किया, इतने ही कारण के लिए जयपुर राज्य से लड़ाई छेड़ने की राणा प्रताप की इच्छा नहीं थी। परन्तु मानसिंह का बहिष्कार करके उसके कृत्य के निषेध का अधिकार प्रताप को था। उस अधिकार का अमल करने का आग्रह उसने दिखलाया। आज की भाषा में यों कह

३

सकते हैं कि यह हरएक नागरिक के अधिकार की बात है। परन्तु राजा लोग कोई नागरिक नहीं होते। और, जब किसी बलवान साथी के खिलाफ़ किसी अधिकार के उपयोग करने का मौक़ा आता है, तब झगड़ा हो ही जाता है। इसके अलावा राणा प्रताप अहिंसा का कायल नहीं था, बल्कि लड़ाई को क्षात्रधर्म का अंग मानता था। इसलिए उनके बहिष्कार में से रक्तपात और युद्ध पैदा हो गया तो क्या आश्चर्य है?

परन्तु जहाँ असहयोग का हथियार सामान्य नागरिकों ने बरता, वहाँ वह प्रत्यक्ष रक्तपात से मुक्त रहे, इतनी मर्यादा सम्हाली। मुसलमानों और हरिजनों का एक हिस्सा अलग-अलग चुनाव और पाकिस्तान की जो नयी माँग कर रहा है, वह भारी निराशा का परिणाम है। खून-खराबी किये बिना सफल असहयोग करने की हिन्दुओं में जो सहज शक्ति है, उसके डर का यह परिणाम है। एक व्यक्ति दूसरे से अछूता बन-कर रहे, ऐसी समाज-रचना की जरूरत अब नहीं रही है। अब तो एकत्र होने की ज़रूरत है। परन्तु पुराने अभिमान, घृणाएँ और संकीर्णताएँ अब भी नष्ट नहीं होतीं और इसीलिए एक-दूसरे के साथ उचित सम्बन्ध कायम करने के मार्ग खोजने में बाधाएँ उपस्थित होती हैं। परंतु यह विषयान्तर होगा।

यहाँ यह भी कह देना जरूरी है कि असहयोग की यह बुद्धि जनता ने इस्लाम, ईसाई या सिक्ख आदि धर्मों को अंगीकार करने पर भी गँवाई नहीं है। हरिजनों में तो वह भरपूर है। उलटे यह भी कहा जा सकता है कि पाकिस्तान, अछूतस्तान आदि के आन्दोलन हिन्दू-समाज के अलग-अलग दल (जमातें) बनाने के स्वभाव को अपनाने के लक्षण हैं। अगर हिन्दूपन का यही आवश्यक लक्षण हो, तो कहना होगा कि अब ये पूरे-पूरे हिन्दू बन गये!

नयी परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिए इस शस्त्र को नये प्रकार से सजाना और बरतना पड़ेगा, यह सच है। अहिंसा के अधिक संशोधित सिद्धान्तों के अनुसार उसे शुद्ध भी करना होगा। यहाँ मेरे कहने का मतलब इतना ही है कि हम इस शस्त्र से परिचित हैं। और उसके प्रयोग की कला हमें लगभग जन्म से ही विदित है। इसलिए आवश्यक इतना ही है कि इस नीति-शास्त्र के संशोधित सिद्धान्त उपस्थित किये जायें और उसके विधि-निषेध बतलाये जायें। ये बातें समझ में आने पर लोग अपनी स्थानीय परिस्थिति के अनुसार उसके प्रयोग की फुटकर ब्यौरे की बातें अपने आप सोच लेंगे।

हमारे लिए दूसरी एक अनुकूल बात यह है कि हमारा देश कोई एक ऊजड़ भूखण्ड नहीं है, जिसमें हम विदेशी लोगों की मदद के बिना जी ही न सकें। बीसवीं सदी के नवीनतम ढंगके बड़े-बड़े शहरों की सुविधाएँ और भोग-विलास हमें भले ही नसीब न हो सकें; तो भी साधारण सुविधा से रहना हमारे लि नामुमकिन नहीं है। हम यूरोप और अमरीका के वेग और चमक-दमक से क़दम नहीं बढ़ा सकें, तो भी स्थिर क़दम से आगे बढ़ते रहने के लिए हमारे देश में काफी क़ुदरती साधन और मज़दूरों तथा बुद्धि का बल है।

यही नहीं, अगर समभाव और मित्र-भाव से माँग की जाये, तो आज भी अपने देश को मर्यादित वेग से आगे बढ़ाने में हम दूसरे देशों की प्रजाओं की मदद कर सकते हैं। लेकिन वे अपने बड़प्पन की डींग मारते हुए; या हिंसा की धमकी देते हुए, मदद पा नहीं सकते। इसके लिए ऐसा बराबरी का सम्बन्ध होना चाहिए कि एक प्रजा दूसरी प्रजा का सहयोग दोनों के हित के लिए चाहे। अहिंसात्मक असहयोग का अर्थ दूसरी प्रजाओं से अलग रहना ही

नहीं है। अलवत्ता दूसरों के साथ स्वाभिमान का सम्बन्ध कायम करने का आग्रह इसमें है। हार मानकर, लाचार होकर, विजेता में विलीन हो जाने से वह इनकार करता है। स्वयंपूर्णता का कार्यक्रम जड़ और निश्चल नहीं है। वह हमेशा वन्द दरवाजोंवाला क़िला नहीं है।
उसके दरवाजे ज़रूरत होने पर खोले या वन्द किये जा सकते हैं।

सावारण रीति से बैल या घोड़े की सवारी में यात्रा कर सकें, अँगीठी या चूल्हे पर पानी गरम करके मामूली एकान्त रखकर नहा सकें और दिन में एक वार अखवार मिले, इतने से अगर हम सन्तोष मानने को तैयार हों, तो हम केवल अपने ही परिश्रम से अपने देश की पुनर्रचना करने का विश्वास रख सकते हैं। परंतु वैज्ञानिक सभ्यता का जीवन तेजी से अपनाने की हमारी इच्छा हो, तो हमें पसोपेश में डालनेवाली तरह-तरह की समस्याएँ जरूर खड़ी होंगी। सदियों की कठिन मेहनत से धीरे-धीरे वनी हुई अहिंसा-प्रधान संस्कृतिवाला हमारा समाज ही अहिंसक रीति से इतनी तेज़ पुनर्रचना करने में एक बड़ी विकट पहेली वन जायेगा।

मेरे शब्दों को कोई ग़लत न समझें। मैं यह नहीं कहता कि हमें आधुनिक विज्ञान और उसकी मदद से होनेवाली उत्पत्ति, भोग तथा कुदरती साधनों के उपयोग के लिए दरवाजे वन्द कर लेने चाहिएँ। मेरा निवेदन इतना ही है कि कुदरत और यंत्रविद्या के ज्ञान की वदौलत जो-जो यान्त्रिक आविष्कार या मजदूरों की संख्या घटाने की युक्तियाँ सूझें, उन सबको जल्दी-से-जल्दी दाखिल करने की धुन हमपर सवार न होनी चाहिए। एक नवीनता दाखिल करने के पहले देखें कि उसका समाज पर क्या असर होता है। और वाद में भी यह परख लें कि उससे लाभ ही हुआ है। उससे उत्पन्न हुई परिस्थिति के अनुरूप हेरफेर कर लें, तव दूसरी

नवीनता लाने का विचार करें। पश्चिम के देश विज्ञान के पीछे ऐसे हाथ धोकर पड़े हैं कि अपने लक्ष्य को पहुँचने के पहले ही गुमराह हो गये हैं। और ऐसा करने में वे एक-दूसरे से ऐसे उलझ गये हैं कि किसका नियन्त्रण किसपर है, यह निर्णय करना भी कठिन हो गया है। इस अटपटे जाल में हमारा उलझ जाना ज़रूरी नहीं है। सभ्य संसार के विषय में जबतक उनके विचारों में परिवर्तन नहीं होता, तबतक हमारे भरसक दूर रहने में ही भलाई है। उन्नीसवीं ही क्या, हमें कोई बारहवीं सदी में ही पड़े हुए माने तो भी हर्ज नहीं; उसीसे सन्तोष है। विज्ञान के नये-से-नये आविष्कार के अनुसार सिनेमा के चलचित्र के समान बदलनेवाले भोगमय परन्तु उलझे हुए और हिंसक जीवन की अपेक्षा हमें पूरी खुराक, कपड़ा और घर मिलता रहे, तो वह सादी और नीरोग तथा मेहनती लम्बी आयु हमें विशेष श्रेयस्कर मालूम होगी।

६

कठिनाइयाँ

ऊपर लिखी अनुकूलताएँ जहाँ हैं, वहाँ कुछ प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी हैं, उनका भी विचार करना चाहिए।

बहुत बड़ी जन-संख्या भी अपने-आपमें कई असुविधाएँ पैदा करती है। अखबारों से पता चलता है कि जिन छोटी-छोटी और बहुत सभ्य जातियों को हिटलर ने परास्त किया, उनमें भी देशद्रोही लोगों का बिलकुल अभाव नहीं था। किसी का यह खयाल हो सकता है कि जिनकी हालत बहुत बुरी है या जो बेकार हैं, ऐसे लोग ही देशद्रोही होते होंगे। परन्तु बदक़िस्मती से बहुधा यह दुर्गुण नेता समझे जानेवाले लोगों में भी पाया करता है। हमारे जैसे विशाल देश में तो अलग-अलग विचारों और आदर्शों को माननेवाले कितने ही पक्ष हैं तथा

परस्पर अविश्वास और सत्ता तथा नौकरी का लोभ भी है। तब अहिंसक संगठन का प्रयत्न भला निर्विघ्न कैसे हो सकता है ?

परन्तु ये पक्ष तथा वर्ग तो आखिर हिंसा पर विश्वास करनेवाले हैं। इसलिए वे अगर अहिंसक रचना करनेवालों के प्रयत्न को निष्फल करना चाहें तो कोई आश्चर्य नहीं है। उनकी तो हमें पहले से ही गिनती कर लेनी चाहिए। परन्तु इससे भी बढ़कर विघ्न उन लोगों की ओर से होता है, जो खुद तो हथियार उठाते नहीं हैं मगर अपने निजी या अपने पक्ष के लाभ के लिए हिंसावादियों से सहयोग करते हैं और अहिंसा की शर्तें पालन नहीं करते।

उसी प्रकार अहिंसा में विश्वास करते हुए भी जिन लोगों की अपना अलग अड्डा करने की वृत्ति है, वे भी कई गुत्थियाँ उपस्थित करते हैं। इनकी असहयोग और स्वतन्त्र विचार करने की वृत्ति इतनी अधिक तीव्र होती है कि वे अपने जैसे उद्देश्यों को माननेवाले लोगों के साथ भी पूरा-पूरा सहयोग नहीं कर सकते। परन्तु हिंसक समाज की तरह अहिंसक समाज के लिए भी यह जरूरी है कि एक तरफ के लोग एक दिल से ही काम करें। भूलें तो होंगी। लेकिन भूलों का नतीजा इतना ही होगा कि मेहनत थोड़ी ज्यादा करनी पड़ेगी और सफलता में थोड़ी ढिलाई होगी। परन्तु दग़ाबाज़ी, साजिशें, बुद्धिभेद और झगड़े-टण्टे तो सफलता को अशक्य ही कर देते हैं और कभी-कभी तो जीत को भी हार में बदल देते हैं।

देश के हम दो भाग मानें : एक वे जो हिंसा की नींव पर देश का संगठन करना चाहते हैं, और दूसरे वे जो कि सिद्धान्तरूप से अथवा एक अनिवार्य संयोग के रूप में अहिंसा को स्वीकार कर उसकी बुनियाद पर देश का संगठन करना चाहते हैं। दोनों के अपने-अपने खास नियम, निष्ठाएँ और कार्यक्रम होंगे। उनके अमल में जितना कच्चापन रहेगा,

उतने अंश में मुसीबतों और हार की सम्भावना अधिक होगी।

जब किसी बलवान विपक्षी का सामना करने के लिए संगठित होना हो, तब कुछ कड़ी शर्तें लगाने की, कुछ त्याग करने की, कुछ व्यक्तिगत उद्देश्यों को गौण मानने की और कुछ स्वतन्त्रता छोड़ने की भी ज़रूरत होती है। हिंसक संगठन में इन बातों में आवश्यक आज्ञापालन कराने के लिए बलात्कार (दण्ड, सज़ा) करने का अधिकार दिया जाता है। अहिंसा में अधिक-से-अधिक इतना ही दण्ड दिया जा सकता है कि आज्ञा न माननेवाले को संस्था में से निकाल दिया जाये। लेकिन वैसा करने से मुश्किलें दूर नहीं होतीं। कांग्रेस ने जहाँ-जहाँ यह कार्रवाई की, वहाँ जो कुछ हुआ उस से यह भी कहा जा सकता है कि इससे मुश्किलें बढ़ भी सकती हैं। इसलिए अगर यह उपाय करना ही पड़े, तो याद रखना चाहिए कि वह अपने ही शरीर का एक अवयव काटने के समान है। और उस अंश में संस्था के लिए वह एक आपत्ति का ही प्रसंग है। इसलिए आज्ञाभंग करनेवाले की बुद्धि और उच्च भावनाओं को जाग्रत करने के सब प्रयत्न निष्फल हों और उसकी उपेक्षा करने में जोखिम हो, तभी इस उपाय से काम लेना चाहिए। इसलिए जो लोग अहिंसात्मक प्रतिकार सफल करना चाहते हैं, उन्हें सभी महत्त्व की राष्ट्रीय बातों में खुद पसन्द किये हुए नेताओं की इस छोटी-सी मण्डली की आज्ञा मानने को तैयार रहना चाहिए। लोगों को एक ही वस्तु के विषय में पूरा निश्चय कर लेना चाहिए। वह यह कि नेता व्यवहार-कुशल, चारित्र्यवान् और प्रामाणिक हैं और उनकी देशभक्ति शंकातीत है।

ऐसी आज्ञाधीनता आवश्यक ही है। परन्तु उसे चरितार्थ करना बहुत मुश्किल भी है। हममें स्वभाव से ही जो असहयोग-वृत्ति है, उसकी बदौलत खुल्लमखुल्ला आज्ञाभंग न करते हुए भी आड़े-टेढ़े

तरीके से विघ्न करने की नीति काम में लायी जा सकती है। उनकी आज्ञा के खिलाफ़ आवाज नहीं उठायी जायेगी; आज्ञा पालने से इनकार नहीं किया जायेगा, अहिंसा के नेताओं और अनुयायियों को किसी तरह सताया भी नहीं जायेगा। परन्तु उनकी सलाह तथा सूचनाओं पर ध्यान ही नहीं दिया जायेगा तो मामला ख़तम है। 'तुम बकते हो, हम सुनते हैं'—इस असहयोग से हम लोग खूब अच्छी तरह वाकिफ़ हैं। स्थानिक-स्वराज संस्थाओं को और रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं को जनता के ऐसे क्रियाहीन असहयोग का ख़ासा अनुभव होता है।

यह सिर्फ अज्ञान, निरक्षरता या आलस की बदौलत नहीं होता। जान-बूझकर भी किया जाता है। सार्वजनिक संस्थाओं के कार्य के प्रति अपनी अरुचि बताने का यह एक तरीका है। बिजली के लिए रबड़ की परतों में से निकल जाना जितना सरल है, उतना लोगों का यह असहयोग भी हो, तो अहिंसक संगठन करना आसान नहीं है।

परन्तु इन कठिनाइयों का सामना तो करना ही पड़ेगा।

१०

हिंसक और अहिंसक लड़ाई के सामान्य अंग

हिंसक तथा अहिंसक लड़ाई में कुछ अंग समानरूप से ज़रूरी हैं; उदाहरण के लिए :—

लड़ाई की तीव्रता और क्षेत्र के विस्तार के अनुपात में दोनों में समाज के नित्य जीवन में थोड़े-बहुत अंश में अव्यवस्था, असुविधा, तंगी सगेसम्बंधियों से वियोग, फिजूल खर्च, औद्योगिक नुक़सान, नफे में कमी, राजी-खुशी के या क़ानूनी टैक्स, जानमाल की जोखिम, काम का अधिक बोझ, जिनकी आदत न हो, ऐसे फ़र्ज़ अदा करना—इत्यादि सहना पड़ता है।

इसके अलावा मृत्यु, यन्त्रणाएं, मूल्यवान संपत्ति का नाश या अपहरण और स्त्रियों पर अत्याचार आदि संकटों का सामना भी हिंसक और अहिंसक दोनों प्रजाओं को करना पड़ता है।

परन्तु, जरा विचार करने पर समझ में आ जाता है कि जहाँ दोनों ओर से हिंसा का प्रयोग होता हो, उसकी अपेक्षा जहाँ एक ही ओर से हिंसा का प्रयोग हो रहा हो और दूसरी तरफ़ से अहिंसक प्रतिकार होता हो, वहाँ इन सारे खतरों का अनुपात उभय पक्ष में कम हो जाता है। जब आक्रमणकारी यह जानता हो कि विपक्षी के पास लड़ने के लिए बन्दूकें भी नहीं हैं, तो उसे उतने ही टैंक, जंगी हवाई जहाज़, बेड़े, बम वगैरा बनवाने या लाने पड़ेंगे जितनों की वह अहिंसक प्रजा पर आतंक जमाने के लिए जरूरत महसूस करता हो। हिंसा के साधनों से अरक्षित प्रजा का वह समूल संहार कराना चाहे और वह संहार अपनी आँखों से देखने की व्याकुलता टालने के लिए अपने शिकार के सामने न आना चाहे, तोभी जिस मात्रा में आज उसे यान्त्रिक सेना का उपयोग करना पड़ता है, उतना नहीं करना पड़ेगा। हिन्दुस्तान तथा अमेरिका की जंगली जातियों की जो स्थिति हुई है, वही गति अहिंसक प्रजा की कर दी जायेगी, यह आशंका हो सकती है। परन्तु निष्फल हिंसक विरोध की अपेक्षा अहिंसक विरोध से क्या हमारी ज्यादा दुर्दशा हो सकती है? हिंसा से विजय पाने के लिए तुम्हें शत्रु की अपेक्षा अधिक भयंकर हिंसा करनी चाहिए, अधकचरी या निष्फल हिंसा से कुछ नहीं बन आयेगा। अहिंसा अगर सफल हो गयी, तो मानव-परिवार की एक दूसरी शाखा के साथ तुम्हारा शान्ति तथा प्रेम का सम्बन्ध कायम होगा। और अगर उसका कोई असर न हुआ और आधे रास्ते में ही तुम हिम्मत हार गये, तोभी १९१८ ई० में जर्मनी की

या १९४० ई० में फ़ांस की जो दुर्गति हुई, उससे बदतर तुम्हारा हाल नहीं होगा।

मतलब यह कि अहिंसक लड़ाई में भी हिंसक लड़ाई की तरह जोखिम तो उठानी ही पड़ती है। हिंसा में सामनेवाले को हराने के लिए क्रूर बहादुरी की ज़रूरत होती है। अहिंसा में बिना हाथ उठाये जोखिम का सामना करने की शान्त बहादुरी की ज़रूरत होती है। शस्त्रधारी सिपाही की क्रूर बहादुरी के पीछे हो सका तो लड़ाई की जोखिमों से बच जाने की वृत्ति होती है। यह वृत्ति केवल आत्मरक्षण या जान बचाने की ही नहीं होती, मारक और आत्मरक्षक दोनों तरह की होती है। शान्त बहादुरी में जोखिम से भागने का तो प्रयत्न ही नहीं होगा। इसलिए बचने की वृत्ति का सवाल ही नहीं है। और मारक वृत्ति तो हरगिज़ हो ही नहीं सकती। मध्ययुग में अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए जिस प्रकार की अग्नि-परीक्षाएँ—जैसे कि तपे हुए लोहे का गोला उठाना आदि—ली जाती थीं, उनसे इस प्रसंग की उपमा दी जा सकती है।

इसके अलावा लड़ाई की तैयारी के रूप और लड़ाई के दौरान में भी हिंसा और अहिंसा दोनों में वेगवान रचनात्मक कार्यक्रम की एक-सी ज़रूरत होती है। जैसा कि विनोबाजी ने अपने एक लेख में कहा है—

"यूरोप की लड़ाई हिंसक साधनों से हिंसक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हो रही है। हमारी लड़ाई अहिंसक साधनों से अहिंसक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होगी। इन दोनों में यह बहुत बड़ा अन्तर होते हुए भी उस हिंसक लड़ाई से हम कई बातें सीख सकते हैं। लड़ाई के साधन चाहे जैसे क्यों न हों, आजकल का युद्ध सामुदायिक तथा सर्वांगीण सहयोग का एक ज़बर्दस्त प्रयत्न होता है। यद्यपि इस प्रयत्न का फलित

विध्वंसक होता है, और यद्यपि यह भी मान लिया जाय कि उसका उद्देश्य भी विध्वंसक होता है, तथापि यह प्रयत्न स्वयं प्रायः सारा-का-सारा विधायक ही होता है। कहते हैं कि जर्मनी ने सत्तर लाख फ़ौज खड़ी की है। आठ करोड़ के राष्ट्र का इतनी बड़ी फ़ौज खड़ी करना, उतने बड़े पैमाने पर लड़ाई के हथियार, औज़ार तथा साधन-सामग्री प्रस्तुत करना, चुने हुए लोग फ़ौज में भरती करने के बाद बाक़ी के लोगों द्वारा राष्ट्रीय संसार चलाना, सम्पत्ति की धारा अव्याहत गति से प्रवाहित रखने के लिए औद्योगिक योजनाएँ यथासम्भव अखंड जारी रखना, तमाम पाठशालाएँ आदि बन्द करना, नित्य की जीवन-सामग्री के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार पर सरकारी कब्ज़ा जमा लेना, जिस प्रकार विश्वरूप-दर्शन में आँख, कान, हाथ, पैर, सिर, मुँह अनन्त होते हुए भी हृदय एक ही दिखाया गया है, उसी प्रकार, मानो सारे राष्ट्र का हृदय एक करना---यह सब इतना विशाल और इतना सर्वतो-मुख विधायक कार्यक्रम है कि उसके संहारप्रवण होते हुए भी हम उससे बहुत कुछ सीख सकते हैं।"

११
अहिंसा की शर्तें

अब अहिंसक संगठन की शर्तों का विचार करें।

इसका विचार करते हुए साधारण मनुष्य में जितनी अहिंसा या हृदय की उदारता होती है, उससे अधिक की उम्मीद मैंने नहीं की है। जैसा कि पहले अहिंसा की व्याख्या करते हुए कहा जा चुका। व्यवहार्य अहिंसा में हिंसा का अभाव और उदारता की ओर झुकाव या रुख होता है। इसमें स्वार्थ-वृत्ति का सम्पूर्ण अभाव नहीं है। परन्तु न्यायी स्वार्थ-बुद्धि है।

मतलब यह कि जनता को नीचे लिखी बातें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिएँ :—

१. हर परिस्थिति में—गुस्से के लिए चाहे कितना ही बड़ा कारण क्यों न उत्पन्न हुआ हो या हिंसा करने या चोट पहुँचाने की कितनी ही अनुकूलता क्यों न हो, उसे हिंसा से परहेज़ ही रखना चाहिए।

२. विरोधी ने चाहे कितना ही खराब और दुष्टता का वर्ताव क्यों न किया हो, तोभी उसका बदला लेने की या बदला लिया जायेगा ऐसी उम्मीद नहीं करनी चाहिए। उसे अपनी उदारता बताने को तैयार रहना चाहिए और नेता हमेशा उदारता दिखायेंगे ही, ऐसा मान लेना चाहिए।

३. सफलता मिलने पर भी किसी प्रकार के अनुचित लाभ उठाने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए।

४. अगर ऐसे अनुचित लाभ या हक़ प्राप्त हुए हों जो विरोधी के साथ या जनता के किसी वर्ग के साथ अन्याय करनेवाले हों तो उन्हें छोड़ने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

५. जिनकी स्थिति अच्छी हो, उन्हें अपनी दौलत अपने से कमनसीब लोगों के साथ बाँटकर भोगनी चाहिए। दलित और बेकार जनता के लाभ के सारे कार्यक्रमों को उन्हें उदारता से बढ़ाना चाहिए।

६. जिस तरह का असहयोग ज़मानों से हमारे देश में चलता आया है, उसमें और जिस तरह का अहिंसात्मक असहयोग आज हमारे सामने पेश किया गया है उसमें जो अन्तर है, वह भी लोगों को समझ लेना चाहिए। रूढ़ असहयोग में शरीर पर प्रत्यक्ष प्रहार किये बिना विरोधी की जितनी हिंसा की जा सके, उतनी की जाती थी। उसमें विरोधी के प्रति प्रेम, करुणा, उदारता जैसी भावनाएँ नहीं थीं। सख्त दण्ड दिये बिना अथवा उसे नीचा दिखाकर झुकाये बिना, उसके खिलाफ़ असहयोग

बन्द नहीं किया जा सकता था। विरोधी हमारा टेढ़े रास्ते गया हुआ भाई है और उसे हमें फिर-से सही रास्ते पर लाना चाहिए, यह भावना उसमें नहीं थी। बल्कि यही भावना थी कि वह हमारा दुश्मन है और उसे कुचल डालना चाहिए। अहिंसात्मक असहयोग में विरोधी की तरफ़ कुछ दूसरी निगाह से देखना होता है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसात्मक लड़ाई का मक़सद प्रतिपक्षी को कड़ी हार देना या उसपर सोलह आने विजय पाना नहीं है; वरन्, जिसमें दोनों के आत्म-गौरव की रक्षा हो, इस प्रकार की स्थायी सुलह स्थापित करना है। इसमें पुश्त-दर-पुश्त चलनेवाली अदावत क़ायम करने की वृत्ति नहीं होती। बल्कि उचित परिस्थिति उत्पन्न होते ही उस असहयोग को खत्म करने देने की मन्शा होती है। असहयोग की मात्रा भी परि स्थिति की ज़रूरत के अनुसार बढ़ायी या घटायी जाती है।

७. जैसा कि पहले कहा जा चुका है लोगों को अहिंसात्मक प्रतिकार में रही हुई सलामती के बारे में ग़लत कल्पनाएँ नहीं करनी चाहिएँ। युद्ध की सारी जोखिमें इसमें भी हैं। लेकिन वैर या बदला लिया गया, ऐसी बड़ाई मारने का संतोष प्राप्त करने की आशा इसमें किसी क़दर नहीं है। गम्भीर धीरज और दृढ़ता से अग्नि-परीक्षा देने की लोगों की तैयारी होनी चाहिए।

८. लोगों को अपने नेताओं पर पूरा-पूरा भरोसा रखना चाहिए। नेताओं को पसन्द न आये, ऐसा कोई समझौता उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए और न किसी दूसरे की सलाह से उनके सुझाये हुए कार्यक्रम में हेर-फेर ही करना चाहिए। उनको अपने नेताओं में यह विश्वास होना चाहिए कि न तो वे देश को किसी के हाथ बेचकर बरबाद करनेवाले हैं, और न जनता को ज़रूरत से ज्यादा तकलीफ़ या जोखिम में डालनेवाले।

१२
संचालकों की योग्यता

इतना तो हुआ सामान्य जनता के समझने के लिए।

परन्तु जब देशव्यापी संगठन करना हो, तब प्रांतीय और स्थानीय नेताओं और कार्यकर्ताओं का भी एक खासा समूह होना चाहिए। देश के नेताओं द्वारा ठहरायी गयी राष्ट्रनीति और अहिंसात्मक लड़ाई के सिद्धान्त उन्हें अच्छी तरह समझने और हजम करने चाहिएँ। यही नहीं, वरन् जनता को वे बातें समझाना और स्थानीय परिस्थिति के अनुसार उन्हें लागू करने में खूब शक्ति भी दिखानी चाहिए। गांधीजी का 'बलवान की अहिंसा' वाला सूत्र खासकर उनपर लागू है। मेरी समझ में उसका अर्थ यह है कि जो ऐसा मानते हैं कि हमारे पास हथियार और दूसरे साधन नहीं हैं, इसलिए हमें अहिंसा का उपाय ग्रहण करना पड़ता है, उन्हें इस आन्दोलन के समझाने का या मार्गदर्शन, संगठन या नियंत्रण का भार अपने ऊपर नहीं लेना चाहिए। इस आन्दोलन का संचालन उन्हीं व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए, जिनका विश्वास है कि अहिंसा हिंसा की बनिस्बत केवल नैतिक दृष्टि से ही नहीं वरन् व्यावहारिक दृष्टि से भी बढ़िया है और वह न सिर्फ हमारे ही लिये, बल्कि जो देश सिर से पैर तक नये-से-नये हथियारों से लैस हैं, उनके लिये भी है। और यह कि कमज़ोरी, आत्म-विश्वास का अभाव तथा लाचारी से अहिंसा की नहीं, बल्कि हिंसा की वृत्ति उसी तरह पैदा होती है, जैसे कि कोरी खुदगरज़ी द्वेष से।

सुनने में बात कुछ अटपटी भले ही लगे, तोभी सच यह है कि डर से भरा मनुष्य हमेशा शरण ही नहीं लेता, बल्कि जनूनी (उन्मत्त) लड़ाका भी बन जाता है। जब उसके अपने या उसके बच्चों की जान का खतरा

हो, तब बिल्ली में कितना जुनून पैदा हो जाता है, सो हम जानते हैं। फिर यह भी नहीं कि सिर्फ कायर ही शरण चाहते हों। वीरों को भी शरण में जाने की नौबत आती है। लड़ाई के शुरू में तो हरएक प्रजा यही कहती है कि जबतक हमारा एक भी आदमी ज़िन्दा है, तबतक हम बराबर लड़ते रहेंगे। हम मरेंगे, लेकिन झुकेंगे नहीं। परन्तु राजस्थान के इतिहास के थोड़े-से उदाहरण छोड़ दिये जाय, तो दुनिया की तवारीख में अक्षरशः इस प्रकार के कितने उदाहरण पाये जायेंगे? हाँ, हरएक देश और युग में मुट्ठी-भर ऐसे वीर तो पैदा होते ही रहेंगे, जो बदनामी से जीना कभी पसन्द नहीं करते। परन्तु सारी सेना या प्रजा के नाम पर ऐसी वीरता आम तौर पर पायी नहीं जाती। सेनापति और सिपाही स्वाभिमान के लिए लड़ते तो हैं। उसके लिए कुछ दिन तक अपना सारा तन, मन, धन जोखिम में भी डालते हैं। और यह भी हो सकता है कि उसे बचाने की कोशिश करने पर भी उसकी आहुति हो जाये। परन्तु सारी आशा नष्ट हो जाने पर भी स्वाभिमान के लिए जान देनेवाले लोगों की संख्या बहुत बड़ी नहीं होती। ज्यादातर लोगों में स्वाभिमान की अपेक्षा जीने की तृष्णा अधिक बलवान होती है। और न हमेशा यह भी देखा गया है कि जो बहादुरी के लिए मशहूर हैं, ऐसे जुझारू वृत्ति के लोग भी स्वाभिमान के बिना जीना पसन्द ही नहीं करते। 'सिर सलामत तो पगड़ी पचास' वाली कहावत में बहुतेरे आदमियों का विश्वास होता है और इसलिए दरअसल मर जाने की बनिस्बत बदनामी से और कमरतोड़ मेहनत मशक्कत करके भी जिन्दगी निबाह लेना ही वे पसन्द करते हैं।

मतलब यह कि ऐसा मानने के लिए कोई सबूत नहीं है कि जान-बूझकर निहत्था रहकर मरने का निश्चय करनेवाले वीर की अपेक्षा

शस्त्रधारी मनुष्य का उसी प्रकार का निश्चय अधिक बलवान होगा। लेकिन जिसे इसके बारे में शक हो, उसे अहिंसक लड़ाई का अगुआ नहीं बनना चाहिए। बाहर सुरक्षित अन्तर पर रहकर वह उदारता से दूसरी मदद देता रहे, तो उससे भी वह आन्दोलन और प्रजा की अधिक सेवा कर सकेगा।

दूसरे, स्थानीय नेता और कार्यकर्त्ता अगर लोगों के प्रेम और इज्जत के पात्र न हों, तो वह आन्दोलन लोकप्रिय नहीं हो सकता।

वे अप्रिय और प्रतिष्ठाहीन दो कारणों से हो सकते हैं :—

लोगों का उनमें यह विश्वास नहीं कि वे निःस्वार्थ, सच्चे और अपने पक्ष से बेईमानी न करेंगे। अथवा सरकारी अधिकारियों या संन्यासियों की तरह वे लोगों से अलग और दूर रहते हैं; उनके साथ मिल-जुल कर नहीं। इसके कारण उनके और जनता के बीच एक गहरी खाई पैदा हो जाती है और ऐसा हो जाता है कि मानो दोनों अपनी-अपनी जुदी-जुदी दुनियाओं में रहते हों। कार्यकर्ता जनता की कमज़ोरियों को जानते तो हैं; लेकिन उसकी झंझटों, हौंसों और भावनाओं की वे क़दर नहीं कर सकते। राष्ट्रीय आन्दोलन से जनता के मूक असहयोग का कारण कई बार कार्यकर्ता और जनता के बीच पड़ा हुआ फ़ासला ही होता है। जाहिर है कि जबतक जनता के विश्वास का पात्र न बन सकनेवाला पहला वर्ग दूर नहीं होगा और जनता से अलग रहनेवाला दूसरा वर्ग अपने बर्ताव में उचित सुधार करके जनता के नज़दीक नहीं आयेगा, तबतक अहिंसा का सन्तोष-कारक संगठन नहीं हो सकेगा।

तीसरे, व्यवहार्य अहिंसा तथा अहिंसात्मक लड़ाई के क्या माने हैं यह अगर अच्छी तरह समझ लिया जाय, तो कांग्रेस की रचनात्मक

प्रवृत्तियों को पक्की बुनियाद पर रखने और तेजी से चलाने का महत्त्व समझने में मुश्किल नहीं होगी। जनता में स्वावलम्बन का आग्रह, आत्म-विश्वास का बल और राष्ट्र के अन्दर छिपी हुई आत्मशक्ति का भान जाग्रत करना है। अलग-अलग कौमों में इस प्रकार की एकता क़ायम करनी है कि जिससे वे एक ही शरीर के जुदे-जुदे अवयवों की तरह एक-दूसरे से जुड़ी रहें। समानता, न्याय और मेल-मिलाप की बुनियाद पर उनके आपसी सम्बन्ध मज़बूत करने हैं। कहीं भी बड़प्पन या छोटेपन का खयाल न रहने पाये। न तो जनता में गुण्डेपन से डरने या स्वाभिमान-शून्य आजिजी करने की आदत रहनी चाहिए न दूसरों को झुकाने का बदमिजाज या लाचार होकर अपमान सहलेने की वृत्ति रहनी चाहिए; और न दम्भ, धोखेबाजी या खुशामदी वृत्ति ही रहनी चाहिए। और यह सब तालीम बिना जबरदस्ती किये देनी है। सिर्फ कवायद में ही नहीं, परन्तु अधिकारी व्यक्तियों के साथ सभी तरह के व्यवहार में सीना तानकर खड़े होने की हिम्मत लोगों में आनी चाहिए—मगर बिना अपनी शराफ़त छोड़े। दलित, भूखे, परित्यक्त और बुरे रास्ते पर चलनेवालों से भी भाईचारा क़ायम करना है। धनवानों को समाज के हित के लिए अपने भण्डार खोलना सिखाना है। यह सब तभी हो सकता है, जबकि रचनात्मक कार्यक्रम को तेजी से चलाया जाये और धनी नेता और कार्यकर्ता खुद त्याग, सादगी और हाथ खोलकर दान करने की मिसाल पेश करें।

चरखा चलाना तो रचनात्मक कार्यक्रम को गति देने की कार्यकर्ता की लगन का एक पहला क़दम-सा है। नेताओं और कार्यकर्ताओं के लिए वह स्वराज्य की कीमत का उनका पूरा हिस्सा नहीं है—सिर्फ बानगी है। रचनात्मक कार्यक्रम की जुदी-जुदी विगतों का प्रचार तथा

सुधार करते रहकर उन्हें बाकी की कीमत चुकानी है। स्वराज का अर्थ सिर्फ विदेशी सत्ता और हमारे सम्बन्धों का आखिरी फैसला करना ही नहीं है, वरन् देश के जुदे-जुदे राज्य, प्रान्त, क़ौमों तथा संस्कृति, भाषा, समाज-रचना और आर्थिक हितों के कारण अलग-अलग वर्गों में बँटे हुए लोगों के साथ हमारा अपना तथा उनका आपस का सम्बन्ध ठीक करना भी है। इतने पर भी जो स्वराज और रचनात्मक कार्यक्रम का सम्बन्ध न समझ सकते हों, उन्हें कम-से-कम ऐसा स्थान स्वीकार करना चाहिए, जिससे वे प्रगति को रोकनेवाले ब्रेक न बन जायें।

१३

सर्वोपरि मण्डल

अब जनता के सर्वोपरि मण्डल के स्वरूप और कर्तव्यों के बारे में थोड़ा विचार करता हूँ।

अगर हिन्दुस्तान को एक स्वतन्त्र और अपनें अहिंसात्मक राज्य तथा समाज-रचना के द्वारा जगत को पदार्थ-पाठ देनेवाला देश बनाना हो, तो हमें ऐसी स्थिति को पहुँचना चाहिए, जिसमें प्रजा-हित की हरएक बात में आखिरी मार्गदर्शन कराने का अधिकार किसी एक सर्वोपरि सत्ता को दिया हुआ हो। उसका स्थान मनु, मूसा या मुहम्मद के समान होना चाहिए। यह सर्वोपरि सत्ता जनता के किसी एक ही सर्वमान्य नेता के हाथों में है या सम्पूर्ण सहयोग से काम करनेवाले किसी छोटे-से मण्डल को सौंपी गयी है—यह बहुत महत्त्व की बात नहीं है। अगर उस नेता या नेता-मण्डल ने अहिंसा को अपनाया है और अगर जनता के प्रेम और आदर पर ही उसकी सत्ता की डोरियां हिलगी हुई हैं, तो विश्वास किया जा सकता है कि वह नेता या नेता-मण्डल जान-बूझकर लोगों का अहित नहीं करेगा।

इस सर्वोपरि सत्ता की तरफ़ से कार्य के बारे में जो-जो सूचनाएँ निकलें, उनपर लोगों को बिना हेर-फेर किये विश्वास और उत्साह से अमल करना चाहिए। फौजी तन्त्र में 'ऐसा क्यों?' पूछने का भी अधिकार नहीं होता। अहिंसक तन्त्र में एक हदतक 'ऐसा क्यों?' सवाल किया जा सकता है। लेकिन जब अगुआ विनती करे कि मेहरबानी करके अब सवाल पूछना बस कीजिए, तो प्रश्न बन्द करने चाहिएँ और अमल शुरू करना चाहिए। अहिंसक नेता ज़बरदस्ती कुछ नहीं करा सकता। इसलिए आमतौर पर वह अपनी सूचनाओं के मूलभूत (बुनियादी) कारण भरसक स्पष्टता से समझाने की कोशिश करेगा ही।

मैं समझता हूँ कि कोई भी व्यक्ति या मण्डल लगभग सारी प्रजा के सर्वोपरि पद पर तभी पहुँच सकता है, जबकि सभी महत्त्व की कौमों, जातियों और वर्गों के आन्दोलन करनेवाले मण्डलों के बहुत भारी बहुमत का विश्वास उसे मिला हो। सम्भव है कि आन्दोलन करनेवाली एक संस्था जिस जाति या वर्ग के लिए बोलने का दावा करती हो, उसके भी बहुत बड़े हिस्से के सच्चे हितों की हिफ़ाजत दरअसल वह न करती हो। लेकिन, फिर भी, वह अपने आदमियों में और दूसरे लोगों में शंका, ना-समझी, बुद्धि-भेद और अस्पष्ट विचार पैदा करने के लायक ताक़त कमा लेती है। इसलिए या तो प्रामाणिक विरोधी से समझौता करने की पूरी-पूरी कोशिश करनी चाहिए या फिर उस मण्डल की अप्रामाणिकता इतनी खुल जानी चाहिए कि जिससे उसकी जाति के और दूसरे लोगों में भी उसकी कोई वक़त न रहे।

१४

संगठन की ज़रूरत

संगठित प्रयत्नों की ज़रूरत विस्तार के साथ समझाने की आवश्य-

कता नहीं होनी चाहिए। लेकिन कुछ लोगों का यह खयाल है कि "अहिंसा में संगठन से ज्यादा फ़ायदा नहीं होता—खासकर तब जबकि उसका हेतु हिंसा का विरोध करना हो; क्योंकि बहादुरी एक व्यक्ति का स्वाभाविक तेज है और चाहे वह व्यक्ति अकेला हो या एक झुण्ड में हो, उसका वह तेज प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा। लेकिन डरपोकपन एक मनुष्य में रहा हुआ अँधेरा है, इसलिए कई डरपोक आदमियों की बनी हुई टोली में कुल मिलाकर घना अँधेरा ही होगा। इसलिए संगठित करने का प्रयत्न न करने से ही अहिंसा का अच्छे-से-अच्छा संगठन होता है।" यह भी कहा जाता है कि "संगठन केन्द्रीकरण (सेन्ट्रलाइज़ेशन) की ओर झुक जाता है, और उसका रुख हिंसा की ही तरफ़ होता है। इसलिए संगठन का झुकाव हिंसा की ओर होता है और असंगठन का अहिंसा की ओर।"

मेरे नम्र मत से ये सब विधान वाजिब से ज्यादा व्यापक भाषा में पेश किये गये हैं। बहादुरी और कायरता, ताक़त और कमजोरी छूत के रोग जैसे हैं। यह हो सकता है कि दो जनों में अकेले जोखिम में उतरने की हिम्मत न हो। यदि वे दोनों अपने अपने डर की पोटलियाँ लेकर ही जोखिम के मौके पर इकट्ठे हों और अपने साथी में जो कुछ साहस-वृत्ति हो, उसे घटाने में ही उसका उपयोग करें, तो इन दोनों के संगठन से उपजी हुई कायरता उनकी हरएक की कायरता से भी बढ़ सकती है। लेकिन अगर हरएक का हेतु जोखिम का सामना करने में एक-दूसरे से ताक़त हासिल करना हो, तो उनके संगठन से कमजोरी घटेगी और ताक़त बढ़ेगी। मतलब यह कि उचित वृत्ति से और अच्छी तरह किये हुए संगठन में हरएक सदस्य की व्यक्तिगत शक्तियों के जोड़ की बनिस्बत ज्यादा शक्ति पैदा होनी चाहिए।

फिर केन्द्रीकरण (सेन्ट्रलाइज़ेशन) और विकेन्द्रीकरण (डिसेन्ट्रलाइ-ज़ेशन) के सिद्धान्त में से किसी एक ही को अपने में पूरा उसूल मान लेना भूल है। हरएक में कुछ फ़ायदा है और कुछ नुक़सान। न तो हमें केन्द्रीकरण की भव्यता से चौंधियाना चाहिए और न विकेन्द्रीकरण की सादगी पर रीझ जाना चाहिए। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के आख़िरी सिरे छोड़कर, जिस परिस्थिति का सामना करना हो, उस परिस्थिति में जनता के लिए ज्यादा-से-ज्यादा हितकर क्या होगा, इस दृष्टि से जीवन के क्षेत्र में और हरएक क़दम पर इन दोनों का उचित मिलाप कहां करना चाहिए, इसकी खोज करके उनमें उचित फेर-बदल करने चाहिएँ। व्यवहार्य अहिंसा में स्वार्थ-वृत्ति का सम्पूर्ण अभाव नहीं है। इतना ही कि वह अन्यायी नहीं है। और इसलिए वह शुद्ध अहिंसा अथवा अति भलाई के नाम के लायक़ नहीं है। लेकिन उस तरफ को झुकती है, इतना ही। वही बात अहिंसक संगठन की भी है। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण का उचित मिलाप करने की हमेशा कोशिश करते रहना होगा। यह मिलाप हरएक जगह और हरएक समय पर अलग-अलग तरह का होगा। परन्तु, जब-कभी किसी ध्येय को सिद्ध करने के लिए कोई जोरदार काम करना हो, तब संगठन के बिना काम ही नहीं चलेगा। कुछ बातों में उसका संचालन और नियन्त्रण केन्द्र से करना पड़ेगा। कुछ बातों में हरएक शाखा का मार्ग स्वतन्त्र होगा।

१५

छोटे-से-छोटा संगठन

इसपर से हिन्दुस्तान में छोटे-से-छोटे संगठन के स्वरूप और कार्य-क्षेत्र के विचार पर आता हूँ। इसकी निस्बत में यहां जो विचार रख रहा हूँ, उन्हें कोई मेरे आख़िरी और पके हुए विचार न माने। इस समय मेरे

जो विचार हैं, उन्हींको प्रकट कर रहा हूँ, उनमें हेर-फेर होने की पूरी सम्भावना है।

कई कारणों से मेरा ऐसा मत बनता जा रहा है कि आम तौर पर एक-एक गाँव को संगठन या पञ्चायत का छोटे-से-छोटा क्षेत्र या इकाई बनाना ठीक नहीं है। एक कस्बा (क़रीब दस हज़ार की आबादी का) और उसके आस-पास के गाँवों को इकाई का छोटे-से-छोटा हलका या महाल बनाने में मुझे कोई हर्ज नहीं मालूम होता। मैं यह ज़रूरी समझता हूँ कि एक ग्राम-मण्डल या महाल में दस या पंद्रह हजार से कम आबादी न हो और उतनी बस्ती के गाँवों के समुदाय का एक ही क्षेत्र हो। उसी प्रकार बड़े शहर और उनके आसपास की बस्तियों का एक ही मण्डल मानना चाहिए।

हरएक ग्राम-मण्डल में कार्यकर्ताओं के एक ही तन्त्र को सेवा करनी चाहिए और उन सबको सम्मिलित जिम्मेदारी से काम करना चाहिए। हाँ, वे अपनी प्रवृत्तियों के अलग-अलग महकमे बना सकते हैं और हरएक महकमे की अलग-अलग समितियाँ भी बना सकते हैं। उसी प्रकार ग्राम-मण्डल के एक-दूसरेसे जुड़े हुए उप-विभाग भी बनासकते हैं।

यह जरूरी नहीं है कि इस तन्त्र की रचना के लिए बाक़ायदा चुनाव हो। वे अपने आप ही मुक़र्रर हो जायें, तो कोई हर्ज नहीं है; क्योंकि एक बात पक्की है कि अगर जनता के सभी प्रमुख दलों को ग्राम-मण्डल में विश्वास न हो और अगर वह नौजवानों को बड़ी तादाद में आकर्षित न कर सकता हो, तो वह ज्यादा काम कर ही नहीं सकेगा। लोग उसके कामों में योग दें, यही उसके बाज़ाप्ता चुने हुए होने की निशानी है।

ज़िला, प्रान्तीय, मध्यस्थ जैसी ऊपर की संस्थाओं के उसे मंजूरी देने की बाबत यह नीति हो सकती है कि अगर एक ही ग्राम-मण्डल में

काम करनेवाले बहुत-से तन्त्रों में नाम कमाने के लिए होड़ हो रही हो, तो एक को भी मंजूरी न दी जाये। हरएक से कह दिया जाये कि या तो वह मंजूरी के बिना काम करे, या सब मिलकर काम करने का कोई रास्ता निकालें। तन्त्र के भीतरी झगड़े उन्हें अपने आप निपटाने चाहिएँ; ऊपर की संस्था को उनमें दखल देने से इनकार करना चाहिए और जबतक वे अपने झगड़े निपटाते नहीं हैं, तबतक किसी भी तन्त्र को मंजूरी नहीं देनी चाहिए।

हरएक तन्त्र को अपना विधान और नियम बना ही लेने पड़ेंगे। मार्ग-दर्शन के लिए कुछ नमूने सुझाये जा सकते हैं। लेकिन उनमें अपनी योग्यता के मुताबिक हेर-फेर करने की आजादी हरएक को होनी चाहिए। कुछ बुनियादी सिद्धान्त बेशक सबके लिए समान रहेंगे ही। तन्त्र की प्रवृत्तियों में नीचे लिखी प्रवृत्तियों में से कुछ तो जरूर गिनी जायेंगी:—

१. अहिंसा के पालन में चुस्त रहनेवाले सेवकों का एक दल बनाना, जो ज़रूरत होने पर चौकी या पहरा दे और लूट-खसोट, हमला, हुल्लड़, आग, बाढ़ या दूसरे संकटों के मौक़े पर सेवा करे;

२. ग्राम-मण्डल का आर्थिक संगठन, याने उसकी पैदावार आयात-निर्यात, उत्पत्ति, बँटवारा, बिक्री वगैरा का नियमन करना;

३. ग्राम-मण्डल के खादी तथा दूसरे उद्योगों का संगठन करना;

४. बेकारी मिटाने के काम शुरू कराना;

५. बूढ़े, बीमार, अपाहिज, कंगाल वगैरा के लिए राहत के काम या दान खोलना;

६. गुण्डे, शराबी, बदचलन वगैरा को सुधारने के काम शुरू करना;

७. हरिजन तथा दूसरे लोगों की तरक्की के काम करना और उनकी सामाजिक तथा दूसरी दिक़्क़तें दूर करना;

८. (साक्षरता-प्रचार के अलावा) लोगों का सामान्य ज्ञान बढ़ाना;

९. (सरकारी या खास संस्थाओं की प्रवृत्तियों में रही हुई कमी को पूरा करने की गर्ज़ से) स्त्री-शिक्षण;

१०. (इसी तरह कमी पूरी करने के लिए) बुनियादी तालीम तथा साक्षरता-प्रचार;

११. (इसी तरह कमी पूरी करने के लिए) दवा, स्वास्थ्य और सफ़ाई (सैनिटेशन) के काम;

१२. प्रजा के चरित्र को ऊपर उठाना;

१३. ग्राम-मण्डल में बसनेवाली अलग-अलग कौमों, जमातों और दलों के आपसी सम्बन्ध सुधारना;

१४. जीव-दया;

१५. लोक-प्रिय, सस्ते और नैतिक दृष्टि से हितकर मनोरंजन, खेल-कूद, उत्सव, कथा-कीर्तन, गायन, भजन, मेले, प्रदर्शिनियों वगैरा का आयोजन करना;

१६. रास्ते, नाले, पुल वगैरा दुरुस्त करने जैसे लोकोपयोगी काम अपनी मेहनत से करना। (यह सरकारी कामों के अलावा या उसकी मदद लेकर भी हो सकता है);

१७. पड़ोस के ग्राम-मण्डलों से सहयोग करना;

१८. ऊपरी और मध्यस्थ संस्थाओं से निकट सम्बन्ध रखना।

इसके साथ-साथ पैसों या चीज़ों के रूप में चन्दा इकट्ठा करने का एक महत्त्व का काम हरएक तन्त्र के ज़िम्मे रहेगा। उसके लिए बराबर हिसाब-किताब और नोंध (विवरण) रखना भी एक काम माना जा सकता है।

यह ज़रूरी नहीं है कि हरएक तन्त्र इस तरह की हरएक विगत

उठा ले। अगर किसी ग्राम-मण्डल में इनमें से किसी काम में निपुण कोई स्वतन्त्र सन्तोषजनक संस्था हो, तो वह मण्डल उस काम को अपनी सूची में से कम कर सकता है।

१६

उपसंहार

परचक्र के किसी प्राचीन काल में हिन्दुओं के पूर्वजों ने—वर्ण-व्यवस्था से भिन्न, मगर उसके अनुकरण में—ज्ञाति या जाति-व्यवस्था जारी की। उसकी रचना केवल धन्धे पर नहीं, वल्कि अनेक भेद-दर्शक निमित्तों पर हुई—जैसे, जाति (रेस) वतन, धन्धा, धर्म, भाषा वगैरा। कुछ अर्से तक यह व्यवस्था काठ के समान जड़ नहीं थी, वल्कि रवड़-जैसी लचीली थी। इसलिए विदेशियों को हजम करके और समाज में हरएक का उचित स्थान नियत करके सारी जनता का एक ही महान प्रजा के रूप में पहचाना जाना सम्भव हुआ। इस प्रकार वनी हुई प्रजा का प्राचीन 'आर्य' नाम ही जाता रहा और जातियों की एक-दूसरे से कुछ हद तक विलकुल अलग रहने की खासियत होने पर भी सारी प्रजा ने 'हिन्दू' नाम में एकत्व पाया। आगे चलकर—जैसा कि सभी सजीव शरीरों और तन्त्रों में होता है—उस व्यवस्था में बुढ़ापे की खरावियाँ पैदा हुईं। वह जीर्ण और शीर्ण होकर काठ के समान कठिन हो गयी और वाद में आनेवाले विदेशियों को उचित रीति से अपने आप में मिला लेने की या जाति-व्यवस्था के वाहर रहे हुए अथवा वहिष्कृत किये गये समूहों को अपने आपमें समा लेने की शक्ति गँवा वैठी। इसलिए अव सुधरी हुई नींव पर भारतीय प्रजा की एक नयी व्यवस्था का निर्माण करना आवश्यक हो गया है।

वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था की कल्पना में अहिंसा का ही

बीज था; परन्तु वह वरायनाम था। समाज के कमज़ोर या रोषपात्र बने हुए लोगों का शोषण करना, उनके स्वाभिमान को ठेस पहुँचाना या उनकी ढोरों जैसी हालत कर डालना आदि की तरह की सूक्ष्म हिंसा का उसमें निषेध नहीं था। इसके अलावा सभी जातियों की सामाजिक समानता और हरेक मनुष्य की राजनैतिक तथा नागरिक अधिकारों की समानता उसमें मंजूर नहीं की गयी थी।

फिर भी, अहिंसा की नींव पर समाज-रचना करने का वह प्रयत्न था और उसकी बदौलत निःशस्त्र लोगों ने सफल रीति से अपनी ताक़त दिखाने की शक्ति पायी थी। सदियों तक वह व्यवस्था उपयोगी साबित हुई।

उस जमाने में यात्रा करने और सन्देश भिजवाने के साधनों की कमी को देखते हुए एक तरफ़ से इस ज्ञाति-व्यवस्था के अखिल भारतीय स्वरूप पर और दूसरी तरफ़ से उस व्यवस्था के जगह-जगह पैदा किये हुए रूपों की विविधता पर हमें अचम्भा हुए बिना नहीं रहता। इसका यही अर्थ है कि किसी ने एक नया विचार जनता के दिल में पैदा कर दिया और बाद में लोगों ने उस विचार को स्वयं-प्रेरणा और सद्बुद्धि से व्यवहार में विकसित किया। उसी विचार को नये और विशेष शुद्ध रूप में प्रजा में फिर से बोना चाहिए और यह विश्वास रखना चाहिए कि लोग उसे समझेंगे और बढ़ायेंगे।

गीता में कहा गया है कि हरएक को अपनी प्रकृति द्वारा नियोजित कर्ममार्ग का धार्मिक रीति से अनुसरण करना चाहिए। इसी को उसका स्वधर्म कहना चाहिए। स्वधर्म के आचरण में यदि मृत्यु आवे, तो वह उसे भी अच्छा समझे; परन्तु परधर्म को भयंकर समझे। (अ० ३।३५) यह विचार प्रकृति के नियमों के अनुसार ही है।

हरएक प्राणी और योनि में एक अंतःशक्ति मौजूद है। उसकी बदौलत वह अपने शरीर के अवयवों में और अपनी जीवन-निर्वाह-पद्धति, रहन-सहन और व्यवस्था में इस तरह के हेर-फेर कर सकता है और खास ढांचे पैदा कर सकता है, कि जिससे इर्द-गिर्द की परिस्थिति में वह टिक सकता है और शक्तिमान होता है। इतना ही नहीं, वरन् कुछ दर्जे तक अपने शत्रुओं के सामने डटे रहने की और उनका मुक़ाबला करने की ताक़त भी हासिल करता है। ऐसा करने में वह प्राणी (या योनि) अपने प्रतिकूल परिस्थितियों का अनुकरण नहीं करता। बल्कि अनुकूल परिस्थितियों से ही बोध लेता है। वह शत्रु के आयुधों और रीतियों को ग्रहण नहीं करता; वरन् बिल्कुल ही नयी और कभी-कभी शत्रु से उल्टी ही तरह की युक्तियाँ खोजता है। जैसे घास का टिड्डा जिस तरह की पत्तियों में रहता हो, उसी तरह के रूप-रंग धारण करता है। साँप और नेवले के बीच सनातन वैर माना जाता है। इसलिए हरएक ने अपने-अपने खास तरीक़े और हिकमतें खोजी हैं, जिनकी बदौलत किसी का सर्वथा नाश नहीं हो सकता।

मनुष्य-मनुष्य के बीच इस तरह का योनि-भेद तो नहीं है। परन्तु जब कोई मानव-जाति संस्कृति की पसन्दगी के कारण या बाह्य परिस्थितिवश शेष मानवजाति से बिल्कुल जुदी परिस्थिति और संयोगों में जा पड़ी हो, तब कहा जा सकता है कि उस जाति के लिए एक अलग तरह की नियति (भाग्य) या एक खास कर्त्तव्य (मिशन) पैदा हो गया है। इसलिए उसे आक्रमणकारी जातियों का सफलता से मुक़ाबला करने के लिए अपने जीवन-निर्वाह और समाज-व्यवस्था के खास तरीक़े का विकास करना चाहिए। कारण कि इस दृष्टि से वह एक अलग ही योनि के प्राणी जैसी परिस्थिति में है। उसीके अनुकरण

से हम ताक़त नहीं कमा सकते—खास कर जब हमें ऐसा मालूम होता हो कि समग्र मानव-जाति के हित में भी हमें सौंपा हुआ विशेष कर्त्तव्य (मिशन) अथवा हमारे लिए नियत संस्कृति ही विशेष उचित है।

ऐसी विशेषता प्रकट करने की अंतःशक्ति हमारे अन्दर मौजूद है ही—प्रकृति के नियम से होनी ही चाहिए। परन्तु उल्टी दिशा में ले जानेवाले प्रलोभनों के बावजूद भी जब हम दृढ़ता से उसमें चिपटे रहेंगे तभी वह बढ़ सकेगी।

अगर हमें अपनी विशेष नियति या मिशन में श्रद्धा हो, तो हम निश्चय ही यह आशा कर सकते हैं कि संसार में से हिंसा को बिल्कुल मिटा देना मुमकिन न हो तो भी, हिंसा का सफल मुकाबला करने के लायक़ शक्ति तो अहिंसा में है ही।

: ३ :

मनुष्य की स्वभावगत अहिंसावृत्ति

१

भूमिका

कई वर्ष बीत गये। शायद सन् १९२२ या २३ की बात है। अमलनेर का तत्त्वज्ञान-मन्दिर देखने गया था। महाराष्ट्र[१] के एक प्रसिद्ध अध्यापक, जो अब दिवंगत हो चुके हैं, उस वक्त वहां काम करते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि उस संस्था में रहनेवाले विद्वान् पौर्वात्य और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन करके पौर्वात्य तत्त्वज्ञान, विशेषकर वेदान्त, कितना श्रेष्ठ और पूर्ण है—यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अपनी संस्था की बहुत-सी जानकारी देने के बाद उन्होंने मुझसे सत्याग्रहाश्रम का हाल पूछा। मैंने बतलाया। बाद में वे मुझसे कहने लगे, "देखिए, मैं सच कहता हूँ। आप बुरा न मानिए। हम लोगों को आपकी यह अहिंसा बिलकुल नहीं जँचती। यह तो गांधीजी का एक खब्त है। वह मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है।" वगैरा वगैरा।

ऐसा कहा जा सकता है कि यह राय—अगर सारी महाराष्ट्रीय जनता के मत की नहीं, तो कम-से-कम जिस शिक्षित वर्ग ने आजतक महाराष्ट्र का जनमत बनाया है और उसका नेतृत्व किया है—उस वर्ग के मत की प्रतिनिधिरूप है।

अपनी जो राय बन गयी हो उसे साहित्यिक और तार्किक शक्ति

---

१. यह लेखमाला मराठी 'पुरुषार्थ' मासिक के लिए मूल मराठी में लिखी गयी थी, इसलिए इसमें महाराष्ट्र का उल्लेख अधिक है।

से बड़ी कुशलतापूर्वक प्रतिपादन करने की कला में यह विद्वान्वर्ग सिद्धहस्त है। इसलिए लोगों में दूसरे किसी मत के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए पहले इस विद्वान्वर्ग के मत में क्रान्ति कराना जरूरी हो जाता है। जबतक हम इनका मत-परिवर्तन नहीं कर सकते तबतक चाहे साधारण जन-स्वभाव दूसरी तरह का और अहिंसा-शक्ति के अनुकूल क्यों न हो, तो भी लोगों की सारी शंकाओं का निराकरण हम नहीं कर सकते। चैतन्य की सभी शक्तियों का यह धर्म है कि साशंक अवस्था में वे अपना पूर्ण और बलवान स्वरूप प्रकट नहीं कर सकतीं। कारण स्पष्ट है। स्वस्थ शरीर में किसी रोग के जन्तु पैदा कर देना जितना आसान है उतना आसान उसका निरसन करना नहीं है। इसी तरह भ्रम उपजा देना आसान है, हटाना कठिन है। उसके लिए केवल साहित्यिक और तार्किक कला ही काफ़ी नहीं है। बल्कि बार-बार अनेक प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा अनुभव करा देने की तथा लोगों की वृत्तियों को भिन्न संस्कारों द्वारा नये ढांचे में ढालने की जरूरत होती है। इसलिए इस काम के लिए अहिंसा-शक्ति का प्रतिपादन करनेवाले साहित्यकारों और तार्किकों की अपेक्षा उस शक्ति के कुशल सेनापति अधिक योग्य हैं। उन्हें अपने अहिंसा के प्रयोगों द्वारा विद्वानों के मतपरिवर्तन का प्रयत्न करना चाहिए। वे सफल ही होंगे यह कहना तो मुश्किल है; क्योंकि छुटपन से जो मत कायम हो जाता है वह एकाएक नहीं बदलता। और अगर मत बदल भी जाये तो भी स्वभाव नहीं बदलता; और मत बदलने की चेष्टा करनेवाले के प्रति मत्सर का भाव पैदा होना संभव है। यह विषय केवल मत से सम्बन्ध रखनेवाला नहीं है। यह स्वभाव का सवाल है। इसलिए मत-परिवर्तन कराने का प्रयत्न करनेवाले पर क्रोध भी आता है। फिर भी, यद्यपि वर्तमान विद्वानों का मत न बदले, तो भी अहिंसा के सफल प्रयोग नयी पीढ़ी

के जीवन को नये ढाँचे में ढालने में सहायक होंगे और साधारण जनता जल्दी ही उन्हें मान्य करने लगेगी।

मतलब यह है कि जिनका आज अहिंसा में थोड़ा-बहुत विश्वास है, उन्हें जो विद्वान् उसे नहीं मानते उनका साहित्य और तर्क द्वारा मत-परिवर्तन कराने की झंझट में पड़ने की जरूरत नहीं है। बल्कि वे अहिंसा के सफल प्रयोग कर दिखाने का और नयी पीढ़ी में अहिंसा-वृत्ति निर्माण करने का प्रयत्न करें। पृथ्वी अपने आपकी और सूर्य के चारों तरफ घूमती है। ऐसा कहनेवाले लोग किसी जमाने में पागल समझे जाते थे। किसी जमाने के वैज्ञानिकों को यह असम्भव प्रतीत होता था कि हवा की अपेक्षा भारी पदार्थ के बने हुए विमान भी हवा में उड़ सकेंगे। इसी प्रकार आज के मानसशास्त्री और विज्ञानवेत्ता इस बात पर जोर देते हुए पाये जाते हैं कि "अहिंसा साधारण जनस्वभाव के प्रतिकूल है," और "प्राणिमात्र में कुदरती तौर पर रही हुई आत्मरक्षा की प्रेरणा में से हिंसा का उद्भव हुआ है, इसलिए अहिंसा कुदरती नियम के विरुद्ध है।" लेकिन इसके बावजूद भी जिन लोगों की बुद्धि को अहिंसा जँचती है, अनुभव की दिशा में अपना कदम लगातार आगे बढ़ाते रहना चाहिए।

२

सामाजिक विशेषताओं के बारे में भ्रम

आजकल यह कहने का रिवाज जोर पकड़ रहा है कि "हर एक मनुष्य की एक खास प्रकृति होती है और प्रत्येक समाज की भी एक प्रकृति-विशेष होती है। महाराष्ट्रीय स्वभाव अमुक प्रकार का होता है, गुजराती अमुक तरह का, बंगाली ऐसे होते हैं, कानड़ी वैसे होते हैं, मुसलमान में फलां खासियतें होनी ही चाहिएँ"—आदि-आदि तरह की बातें हम आजकल बहुत जोरों से कहने लगे हैं। सारी की सारी कौम या प्रान्त के विषय में इन

तरह की कोई राय क़ायम कर लेना अल्प अनुभव का परिणाम है। समझ-दार लोगों को ऐसे विचार हरगिज नहीं फैलाने चाहिएँ। वल्कि उन्हें तो विषय में इस तरह कोई अपने प्रान्त के लोगों की ऐसी धारणाएँ दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसी गलत धारणाओं की वदौलत प्रांतों में परस्पर विद्वेष पैदा होता है। फिर ये धारणाएँ विल्कुल ऊपरी होती हैं। उनके कारण आक्षेपित समाज के लोगों का स्वभाव वदलता हो, सो वात नहीं। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में अगर यह धारणा हो कि गुजराती लोग भावना-प्रधान होते हैं या महाराष्ट्र के देशस्थ ब्राह्मणों की ऐसी धारणा हो कि कोंकणस्थ ब्राह्मण भावनाशून्य होते हैं, अथवा कोंक-णस्थ ब्राह्मणों की यह धारणा हो कि देशस्थ फूहड़ होते हैं, तो उसकी वदौलत जो गुजराती व्यवहारकुशल हैं, जो कोंकणस्थ भावुक है, या जो देशस्थ व्यवस्थित हैं उनका स्वभाव वदलने की कोई सम्भावना नहीं है।

फिर, जव किसी समाज के लेखक या वक्ता अपने समाज के विषय में यह कहने लगते हैं कि "हम ऐसे हैं और वैसे हैं, हमें फलानी चीज जँचती है और ढिमकी हरगिज नही जँच सकती, हमारे खून में यह है और वह नहीं है, हमारी परम्परा अमुक है" आदि-आदि—तव एक खतरा पैदा हो जाता है; क्योंकि ऐसी वातें वार-वार दोहराने से जो संस्कार स्वभावगत न हों, वे भी उन वातों के लगातार सुनते रहने से पैदा होने लगते हैं। "गांधीजी गुजराती हैं इसलिए हमें पसन्द नहीं हैं; अहिंसा भावनामय है, इसलिए हम उसके खिलाफ हैं; लोकमान्य ने अहिंसा का प्रतिपादन नहीं किया, इसलिए उसे हम नहीं चाहते; श्री समर्थ रामदास के साहित्य में हिंसा या मुसलमानों के द्वेष को स्थान है इसलिए हम अहिंसा और साम्प्रदायिक एकता की वातें सुनना नहीं चाहते; तुकाराम महाराज ने भी दुष्टों का नाश करने के

पक्ष में अपनी सम्मति दी है, इसलिए अहिंसा धर्म हमारे प्रान्त के लिए अनुकूल नहीं है; अहिंसा जैनों और बौद्धों की है; वह हिन्दुओं की नहीं है।"—इस प्रकार के संस्कार करते रहने से, अहिंसावृत्ति उत्पन्न होना सम्भव और उचित हो, तो भी वह चित्त में घर नहीं कर सकती।

मतलब यह कि बुद्धिमान मनुष्य को यह उचित नहीं है कि वह हर एक सत् या असत् वृत्ति को प्रान्त-स्वभाव बनाने की चेष्टा करे। अगर हिंसा ही उचित हो तो उसकी नींव केवल महाराष्ट्र में ही मजबूत हो, यह काफ़ी नहीं है। अगर अहिंसा ही उचित हो तो केवल गुजरात में उसका विकास होने से काम नहीं चलेगा। हिंसा, अहिंसा या दोनों के कम-अधिक मेल—जो कुछ भी मनुष्य-जाति के लिए उपयुक्त हो—का विकास प्रत्येक मनुष्य में कराने की कोशिश होनी चाहिए। हिंसा-अहिंसा, दया-क्रोध, क्षमा-दण्ड आदि गुण-वृत्तियाँ हैं, न कि कर्म-वृत्तियाँ या धन्धे-पेशे। गुणों में व्यक्तिगत कम-ज्यादापन हो सकता है। लेकिन, भौगोलिक या जातीय कारणों से विशेषता नहीं होनी चाहिए। कम से कम वह पैदा करने की कोशिश तो कभी नहीं करनी चाहिए। कर्म-वृत्तियों—धन्धों—में वैसा प्रयत्न किया जा सकता है। उदाहरण के लिए समुद्र के किनारे रहनेवाले लोगों में परम्परा से नाविक-विद्या की निपुणता उत्पन्न की जाये तो उसमें कोई दोष नहीं। समतल भूमि पर रहनेवाले लोगों को खेती-बाड़ी की कुशलता सिखायी जाये तो हर्ज नहीं। लेकिन अहिंसा, शौर्य, भय, उदारता, कृपणता आदि गुणों की वृत्तियाँ आम तौर पर सर्वत्र विकसित होनी चाहिएँ। तात्पर्य यह है कि अगर अहिंसा एक हीन या हानिकारक वृत्ति हो तो वह कहीं भी नहीं होनी चाहिए। और अगर वह उदात्त और लाभदायी हो,—मगर महा-राष्ट्र में उसके विकास के लिए काफी कोशिश न की गयी हो—तो अब

वह चेष्टा करनी चाहिए। केवल प्रान्त या जाति के अभिमान से उसकी अवगणना या निषेध करना न तर्कसंगत है न स्वार्थसाधक।

३
केवल प्राकृत प्राणी

काम, क्रोध, लोभ, भय आदि के समान अहिंसा दया, क्षमा, उदारता आदि वृत्तियाँ भी प्राणिमात्र में निसर्गतः मौजूद हैं। ऐसा एक भी जीव नहीं है जिसमें अहिंसा लेशमात्र भी न हो। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि हिंसा का नाम निशान भी न हो ऐसा देह-धारी अवतक कभी पैदा नहीं हुआ है। मनुष्य को छोड़कर दूसरे जीवों की हरएक योनि में विविध वृत्तियों का विकास विशेप प्रकार से हुआ है। 'यह गाय सीधी है, वह उदण्ड है', इस तरह के कुछ व्यक्तिगत भेद भले ही पाये जाते हों; लेकिन अक्सर ये भेद बहुत छोटे दायरे में रहते हैं। शायद ये भेद पालतू जानवरों में ही पैदा होते हैं। कौवे, चिड़ियाँ, गीदड़, चीलें वगैरा आज़ाद प्राणियों में उनके जाति-स्वभाव ही पाये जाते हैं। व्यक्तिगत स्वभाव-भेद कम-से-कम इतने स्पष्ट तो नहीं होते कि वे नज़र आयें।

लेकिन मनुष्य की बात कुछ और हो गयी है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति तथा भौगोलिक, राजनैतिक, धार्मिक या जातीय बन्धनों से संबद्ध मानव-समूह ने इस वृत्ति का विकास या ह्रास भिन्न-भिन्न परिमाण में किया हुआ पाया जाता है। मनुष्य केवल प्रकृति के बस नहीं रह गया है। वह अपनी वृत्ति में प्रयत्नपूर्वक फर्क भी करता है।

फिर भी, एक पीढ़ी या एक व्यक्ति के जीवन में यह परिवर्तन एक खास मर्यादा में ही हो सकता है। प्रकृतिधर्म में आमूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसीलिए गीताकार को कहना पड़ा कि:—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

और अर्जुन का जाति-स्वभाव जानकर उससे कहना पड़ा:—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यवशोऽपि तत् ॥

तात्पर्य यह कि मनुष्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव तथा वृत्ति पैदा करने का सतत प्रयत्न प्राचीन काल से ही होता आया है। लेकिन एक अवधि में या व्यक्ति में उस प्रयत्न को मर्यादित सफलता ही मिल सकती है। इसी प्रयत्न के पर्यायवाची शब्द हैं—संस्कृति, संस्कारधर्म, शिक्षा, तालीम, सिविलिज़ेशन, कल्चर आदि।

इन प्रयत्नों की और भी एक मर्यादा है। संस्कार बदलने का कितना ही प्रयत्न करने पर भी मूल वृत्तियों का आमूल उच्छेद कभी नहीं हो सकता। अर्थात् अगर अहिंसा मानव-स्वभाव की एक मूलवृत्ति हो तो उसका किसी एक व्यक्ति या समाज से अत्यन्त उच्छेद होना असम्भव है। वह अपने विकसित रूप में भले ही न रहे, किन्तु बीज रूप में तो अवश्य रहेगी। चाहे यह वेलि बहुत बड़े क्षेत्र में न फैले, तो भी वह अपने छोटे-से नपे-तुले दायरे में तो अवश्य रहेगी। उसमें बड़े-बड़े फल भले ही न लगें, लेकिन छोटे अवश्य लगेंगे। एक पीढ़ी में वह सूख गयी-सी मालूम हो, तो भी दूसरी पीढ़ी में वह फिर पनपेगी। परन्तु अहिंसा-शून्य व्यक्ति या समाज बन ही नहीं सकता। उसी तरह अगर हिंसा भी मूलवृत्ति हो, तो उसके लिए भी यही कहना पड़ेगा।

तब हमें सबसे पहले इस बात की खोज-बीन करना जरूरी है कि

हिंसा और अहिंसा में से मनुष्य की मूल वृत्ति कौन-सी है ? और यदि ये दोनों उसकी मूल वृत्तियाँ हों, तो एक दूसरे से उनका मेल कैसे कराया जाये ?

इसका शोध करने के लिए 'हिंसा' और 'अहिंसा'—दोनों शब्दों को एक निश्चित अर्थ देना जरूरी है। अन्यथा, बहुत-सी चर्चा फ़िज़ूल जायेगी।

'हिंसा' और 'अहिंसा' की व्याख्या

बीज रूप से देखा जाये तो अहिंसा का अर्थ है—अपनी खुद की शारीरिक, वाचिक या मानसिक इच्छाएँ, कल्पनाएँ, आदर्श, सुख, आवश्यकताएँ आदि का दमन कर दूसरे जीव का सुख बढ़ाने-दुःख घटाने के लिए संतोषपूर्वक त्याग करने की वृत्ति। और हिंसा का अर्थ है दूसरे जीवों की शारीरिक, वाचिक या मानसिक इच्छा, कल्पना, आदर्श सुख, आवश्यकता आदि की पर्वाह न करते हुए अपना ही सुख बढ़ाने या दुःख घटाने की वृत्ति।

इसमें दो बातें हैं। अहिंसा में दूसरे के लिए खुद खपने की और उसमें संतोष मानने की स्पष्ट वृत्ति होती है। हिंसा के लिए दूसरे को दुःख देने की, या उससे राजी होने की स्पष्ट वृत्ति आवश्यक नहीं है। केवल अपने को सुख हो, अथवा दुःख न हो और दूसरे के सुख-दुःख की पर्वाह न हो, इतना काफ़ी है। यानी अहिंसा में स्पष्ट भावना खुद कुछ कष्ट सहने की है। और हिंसा में स्पष्ट भावना स्वार्थ-सिद्धि की और जीवनाभिलाषा की है। जब जीवनाभिलाषा सुगमता से सिद्ध नहीं होती तब इस लापर्वाही में कठोरता पैदा होती है। यह कठोरता प्राणिमात्र में जो सहज हिंसा है उसका परिस्थिति के कारण बना हुआ विकृतरूप है। वह हमेशा आवश्यक नहीं होती। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्राणि-स्वभाव है।

कोई प्राणी जब दूसरों के प्रति उदासीन या निष्ठुर होता है, तब वह हिंसक बनता है। जब वह दूसरों के प्रति मोहवश, करुणा या अन्य किसी भावना से प्रेरित होकर अपनी उदासीनता या कठोरता छोड़कर उसकी चिन्ता करने लगता है, तब वह अहिंसक बनता है। हरएक प्राणी में ये दोनों वृत्तियाँ निसर्गसिद्ध हैं। दूसरों के लिए त्याग करने की वृत्ति का अगर कुदरत से ही अभाव होता और वह वृत्ति बाद में कृत्रिमरूप से प्राप्त की गयी होती, तो संसार में प्राणि-सृष्टि संभव ही न होती। जन्तुमात्र अपनी संतान के लिए, और कई बार अपनी जाति तथा बन्धुओं के लिए, और कभी-कभी तो दूसरी जातियों के लिए भी नित्य या नैमित्तिक त्याग करता है, इसीलिए प्राणियों का सृजन और पालन हो सकता है। जिन योनियों में सामूहिक जीवन का विकास हुआ है उनमें यह वृत्ति विशेष परिमाण में बढ़ी है। इन प्राणियों में से मनुष्य एक है।

एक दृष्टि से देखा जाये तो मनुष्येतर प्राणियों में स्वार्थ-साधन की वृत्ति की अपेक्षा त्याग की वृत्ति अधिक बलवती पायी जाती है। स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे दूसरे प्राणियों का नाश करते तो हैं; लेकिन उसमें बहुत-सी मर्यादाएँ होती हैं। कभी-कभी एक ही जाति के दो व्यक्तियों में लड़ाई होकर वे एक दूसरे की जान भी ले लेते हैं। परन्तु हिंस्र प्राणियों में भी कभी ऐसा नहीं देखा जाता कि एक ही योनि के दो दल, एक दूसरे पर आक्रमण कर युद्ध कर रहे हों। एक जाति के चूहे दूसरी जाति के चूहों को भले ही मार डालें; लेकिन एक ही योनि के चूहों का एक समूह स्व-योनि के दूसरे समूह से दल बनाकर लड़ाई नहीं करता। मतलब यह कि मनुष्येतर प्राणियों के जीवन में आमतौर पर व्यक्तिगत हिंसावृत्ति है। दूसरी योनियों के प्राणियों के नाश के लिए हिंसा का

तात्कालिक संगठन भी क्वचित् पाया जाता है। परन्तु आमतौर पर हिंसक संगठन अर्थात् संगठित हिंसा नहीं पायी जाती।

लेकिन जिन प्राणियों में समूह-जीवन पाया जाता है उनमें थोड़े या अधिक परिमाण में अहिंसक संगठन होता ही है। यह कहा जा सकता है कि अहिंसावृत्ति के विकास के वाद ही प्राणियों में समूह-जीवन की योग्यता पैदा होती है। या यों कह लीजिए कि किसी कारण से समूह-जीवन की अभिलाषा पैदा होने पर अहिंसक संगठन की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। परन्तु प्राणि-जीवन का निरीक्षण करने से यह निश्चितरूप से ज्ञात हो जायेगा कि अहिंसक संगठन और समाज-जीवन का पारस्परिक समवाय-संवंध है।

अहिंसक संगठन में मनुष्य कोई अपवादरूप जन्तु नहीं है। मनुष्य चाहे विलकुल वर्वर अवस्था में हो या विल्कुल अद्यतन 'सभ्यता' की अवस्था में हो उसके लिए एक समाज के रूप में जीवित रहना तभी संभव है जवकि व्यक्ति व्यक्ति तथा परिवार के लिए, परिवार जाति के लिए, जाति राष्ट्र के लिए और राष्ट्र अखिल समाज के लिए, विवेकवल या भावनावल से त्याग करता है; चाहे यों कह लीजिए कि व्यवस्थित समाज की स्थापना का ही दूसरा नाम अहिंसक संगठन है।

लेकिन मनुष्य और दूसरे प्राणियों में एक वड़ा भेद है। पालतू जानवरों के सिवाय दूसरे सारे प्राणी केवल प्राकृत हैं। वे प्रकृति की प्रेरणा से व्यवहार करते हैं और उसके नियमों के अधीन होकर रहते हैं। स्वप्रकृति या वाह्यप्रकृति में कोई परिवर्तन करने की कोशिश नहीं करते। मनुष्य भी अन्त में प्रकृति की प्रेरणाओं और नियमों के अधीन ही तो है। लेकिन एक हदतक वह अपनी और वाह्य प्रकृतियों में परिवर्तन कर सकता है। यह परिवर्तन विकृत और संस्कृत दोनों तरह का

हो सकता है। अर्थात् मनुष्य प्राकृत, विकृत और संस्कृत—ऐसा त्रिविध प्राणी है। त्रिगुण (सत्व, रज, तम) के समान प्रकृति संस्कृति और विकृति भी हरएक मनुष्य में थोड़े या अधिक परिमाण में होती ही है।

इसलिए हर बात में मनुष्य का व्यवहार दूसरे प्राणियों की अपेक्षा कुछ भिन्न रूप का होता है। उदाहरण के लिए मैं ऊपर कह आया हूँ कि मनुष्येतर जीवों में नैमित्तिक संगठन का अपवाद छोड़कर हिंसक संगठन नहीं होता। जीवनाभिलाषा होते हुए भी आमतौर पर स्वजाति-शत्रुत्व नहीं होता। बल्कि उनके व्यवहार से तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अहिंसक संगठन से ही जीवन का धारण-पोषण सुचारु-रूप से हो सकता है—ऐसी उनकी धारणा हो। अपने खाद्य प्राणियों के अतिरिक्त दूसरे प्राणियों को मारने की वृत्ति उनमें साधारण रूप से पैदा नहीं होती परन्तु मनुष्य में जिस प्रकार अहिंसक संगठन का विकास हुआ है उसी प्रकार हिंसक संगठन का भी बहुत बड़ा विकास हुआ है। स्वयोनि-शत्रुत्व-रूपी विकृति बहुत भद्दी तरह से प्रकट हुई है। इसलिए उस संगठन का उपयोग केवल खाद्य या पीड़क जन्तुओं के संहार तक ही सीमित न रहकर वह निर्दोष प्राणियों की हत्या तथा स्वयोनि के लिए भी बेहद काम में लाया जाता है।

हिंसक संगठन का, यानी लड़ाई की तैयारी का सवाल हमारे सामने क्यों उपस्थित होता है ? इसका एक ही कारण है। वह यह कि मनुष्य में स्वयोनि-शत्रुत्व अमर्याद है। हजारों वर्षों के अनुशीलन से मनुष्यों में यह गुण रूढ़ हो गया है। परन्तु इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह गुण चाहे कितना ही प्राचीन क्यों न हो उसकी बदौलत प्रकृति में संस्कृति के बदले विकृति ही हुई है। जिस प्रकार तपेदिक या कोढ़ मनुष्य-समाज में वेद-काल से विद्यमान होते हुए भी विकार ही हैं,

विकार ही रहेंगे और उखाड़ फेंकने के ही योग्य समझे जायेंगे; उसी प्रकार स्वयोनि-शत्रुत्व भी, चाहे बावा आदम के जमानें से ही क्यों न चला आता हो, एक विकार ही है और उसकी जड़ें खोदना संस्कृति का उद्देश्य है।

४

अहिंसा, न्याय और साहाय्य

उपर्युक्त सारी बातें स्वीकार करने पर भी एक प्रश्न रह जाता है "जो दूसरे के लिए संतोषपूर्वक त्याग करता है, उसके विषय में हमें कोई शिकायत नहीं है। लेकिन जब एक तरफ स्वार्थ-तृप्ति की विकृत वृत्ति हो और दूसरी तरफ, संतोषपूर्वक नहीं, वरन् लाचारी से, त्याग करने की परिस्थिति हो, तो उस समय उस दूसरे पक्ष की स्थिति न तो 'प्राकृत' कही जा सकती है और न 'संस्कृत' ही। उसे तो विकृति ही कहना होगा। आपकी ही व्याख्या के अनुसार जिसमें त्याग हो परन्तु संतोष न हो, उसे अहिंसा नहीं कह सकते। चाहे उसे 'भय' या 'निःसहा-यता' या और किसी दूसरे नाम से पुकारिए। लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह विकृति है। इस प्रकार जब उभयपक्षों में विकृति हो तब न्याय के रूप में क विवेक पैदा होता है, जो स्वार्थ-साधु पक्ष का निग्रह और त्रस्त पक्ष की सहायता के लिए निःस्वार्थी मनुष्य को प्रेरित करता है। चिड़िया बिल्ली का भक्ष्य है। इसलिए अगर बिल्ली चिड़िया को पकड़ ले तो दरअसल हमें बिल्ली पर गुस्सा आने का या दखल देने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। लेकिन हम यह साफ देखते हैं कि चिड़िया अपनी खुशी से बिल्ली का शिकार नहीं बनती। बल्कि विवश होकर अपनी प्राण-हानि सहन कर लेती है और अधिक निर्बल है। इसीलिए हमारे अन्दर एक न्याय-वृत्ति जाग्रत होकर वह हमें चिड़िया

को बचाने की गरज से बिल्ली का निग्रह करने को प्रेरित करती है इसमें बिल्ली को बाज दफा एकाध धौल भी खानी पड़ती है। यदि विवेक से देखा जाये तो बिल्ली पर गुस्सा आने का कोई कारण नहीं है उस-पर भी दया ही आती है। लेकिन फिर भी अगर दुबारा वैसा मौका आये तो हम फिर वही करेंगे जो अब किया है, क्योंकि जब बलवान और निर्बल में अपने-अपने स्वार्थ के लिए संघर्ष पैदा होता है, तो बलवान का निग्रह और निर्बल की मदद करने की एक बलवान वृत्ति हमारे अन्दर उठती है। इसे अहिंसा कहा जाये या हिंसा ? अब अगर संयोग से हम या दूसरी चिड़ियाएँ उस चिड़िया के अन्दर किसी उपाय से बिल्ली को हराकर आत्मरक्षा करने का बल पैदा कर सके, तो उस बल को विकृति क्यों कहा जाये ? बल्कि यह क्यों न कहा जाये कि हम या वह चिड़िया अधिक संस्कारी बनी ?

यहाँ चिड़िया और बिल्ली भिन्न योनि के जन्तु हैं, यह बात सही है। कदाचित् आप कहेंगे कि उनके लिए दूसरा नियम होगा और मनुष्य मनुष्य के व्यवहार के लिए दूसरा, लेकिन यह क्यों ? अगर आदमियों में भी एक व्यक्ति या समूह बिल्ली जैसा बन गया हो और दूसरा चिड़ियों जैसा तो वहाँ भी यही नियम क्यों न लागू किया जाये ? इसलिए आपके इस हिंसा-अहिंसा के पृथक्करण में न्याय-वृत्ति का स्थान कहाँ है ? सो तो समझाइए।"

अब इसका विचार करें।

विचार करने से ज्ञात होगा कि न्यायवृत्ति केवल मानुषी वृत्ति है। दूसरी प्रकृतिवश प्राणियों में न्यायवृत्ति जैसी कोई प्रेरणा नहीं है, उनमें साहाय्य-वृत्ति की प्रेरणा है। खुद कष्ट सहकर भी स्वयोनि के या दूसरी योनियों के जन्तुओं की सहायता करने की वृत्ति प्राणिमात्र में पायी जाती

है। इसी के मानुषरूप को हम "न्यायवृत्ति" संज्ञा देते हैं। मतलब यह कि न्याय-वृत्ति प्राणि मात्र में पायी जानेवाली साहाय्य-वृत्ति का ही एक रूप है।

साहाय्य वृत्ति के क्षेत्र में व्यक्ति केवल अपने लिए काम नहीं कर सकता। दूसरे प्राणी या दूसरों के साथ वह स्वयं आ सकता है। केवल अपने लिए प्रयत्न करना साहाय्य वृत्ति नहीं है। वह तो महज जीवनाभिलाषा—प्रकृति-धर्म-गत हिंसा—है दूसरों के लिए खपना साहाय्य वृत्ति है। उसमें संतोषपूर्वक खुद त्याग करने की वृत्ति है। इसलिए वह अहिंसा के क्षेत्र में आती है।

लेकिन दूसरी सारी वृत्तियों की तरह साहाय्य वृत्ति ने भी मानव-योनि में विकृत और संस्कृत दोनों रूप लिये हैं। मूलभूत प्रश्न यह नहीं है कि न्यायवृत्ति अहिंसक है या हिंसक, वल्कि यह कि उसके कौन से रूप प्राकृत हैं, कौन से विकृत और कौन से संस्कृत? न्यायवृत्ति–साहाय्य-वृत्ति–अहिंसा से भिन्न नहीं है। इसलिए अहिंसा की शुद्धि, वृद्धि और संस्कृति में ही न्यायवृत्ति का परिपोष हो सकता है।

इसलिए यह प्रश्न छोड़कर हम अहिंसक संगठन के मूल प्रश्न का ही विचार करें।

५

आत्म-रक्षा का प्रश्न

इसपर भी पाठक शायद पूछेंगे—

"थोड़ी देर के लिए आपका यह सारा कथन मान भी लें तो भी हमारे सामने सवाल यह है कि स्वयोनि-शत्रुत्व चाहे एक विकार भले ही हों परन्तु आज वह मनुष्य-समाज में विलकुल दृढ़ हो गया है। इसलिए हमें यह डर सदा वना रहता है कि मनुष्यों की कोई न कोई

टोली हमपर धावा न बोल दे। इन टोलियों पर दूसरी तरह के संस्कार करने का कोई साधन हमें प्राप्त नहीं है। उनके नेता तो उनका यह विकार बढ़ाने की ही कोशिश करते रहते हैं और निर्बल टोलियों के संहार के लिए बहुत बड़ी तैयारी करने में जुटे रहते हैं। ऐसी दशा में सिवाय बलवान हिंसक संगठन के हमारे सामने दूसरा चारा ही कौन-सा है ?"

यदि यह सवाल आज हमारे सामने व्यवहार्य रूप में उपस्थित हो जाये--यानी हमें दरअसल पूर्ण स्वराज्य हासिल हो जाये और अपने देश का भला-बुरा जो चाहे सो करने की आज़ादी मिल जाये--तो मैं यह मानता हूँ कि देश की रक्षा के लिए मौजूदा हालत में हमें किसी-न किसी परिमाण में हिंसक संगठन की आवश्यकता रहेगी, क्योंकि देश की रक्षा के लिए जो विशेष अहिंसक संगठन चाहिए उसकी तैयारी हम अब तक नहीं कर पाये हैं। इसलिए जिस प्रकार कांग्रेस की प्रांतीय सरकारों को पुलिस की नित्य और फ़ौज की नैमित्तिक मदद लेनी पड़ रही है और उस रूप में हिंसक सामग्री तैयार रखनी पड़ रही है उसी तरह यदि आज ही स्वराज मिल जाये तो अखिल भारतीय कांग्रेस सरकार को भी-बावजूद इसके कि उसका ध्येय अहिंसक है-वही करना पड़ेगा।

लेकिन हमारे सामने आज यह प्रश्न उसके व्यवहार्य रूप में प्रस्तुत नहीं है। आज जिनपर देश-रक्षा की जिम्मेदारी है, उनका इस सम्बन्ध में इतना निश्चय है कि भले ही भारतवर्ष एक आवाज से हिंसक साधनों का निषेध क्यों न करता रहे और उस दिशा में उनके प्रयत्न में बाधा क्यों न डालता रहे, तो भी वे अपना स्वार्थ जानकर हिन्दुस्तान को विदेशी आक्रमण से बचाने के सब आवश्यक उपाय करेंगे।

इसलिए हमारे सामने यह प्रश्न आज ही समाधान के लिए उपस्थित

नहीं है। वल्कि इस रूप में पेश है कि भविष्य में अगर अहिंसा से उसे हल करना हो, तो वह कहाँ तक संभव है और अगर संभव हो तो उसके लिए आज ही से कौन-से उपाय करने चाहिएँ ?

इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह कि जितना ही किसी प्रजा का अहिंसक संगठन बलवान होगा उतना ही उसका हिंसक संगठन भी बलवान हो सकता है। अगर अहिंसा का संगठन निर्वल हो तो हिंसा का संगठन भी निर्वल रहेगा, क्योंकि जिस मात्रा में कोई प्रजा सुसंगठित, व्यवस्थित, स्वावलम्बी और एक होगी उसी मात्रा में वह दूसरी प्रजा का सामना करने के लिए सुसंगठित, व्यवस्थित और एकदिल हो सकेगी। जिस प्रजा में भीतरी फूट, अव्यवस्था, परावलम्वन, वहुशाखाबुद्धि आदि दोप हों वह बलवान हिंसक संगठन भी नहीं कर सकेगी। अगर हिंदुओं को मुसलमानों के खिलाफ, मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ़, या सारे हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ों के खिलाफ़ अथवा सारे साम्राज्य को जापान, जर्मनी आदि के खिलाफ़ हिंसक उपाय काम में लाने हों, तो हरएक को अपने-अपने उद्देश्य के अनुसार अपने-अपने दायरे में——यानी सारे हिंदुओं को, सारे मुसलमानों को, सारे हिन्दुस्तानियों को या साम्राज्यान्तर्गत सारी प्रजाओं को आपस में——सच्चे दिल से एकता करनी पड़ेगी। अगर हिन्दुओं में आपस की फूट हो, मुसलमानों में भीतरी संघर्प हो या हिन्दुस्तानियों में आपसी झगड़े हों अथवा साम्राज्य की भिन्न-भिन्न प्रजाओं में अन्तःकलह हो तो दुश्मन के खिलाफ़ वलवान हिंसक संगठन भी नहीं किया जा सकता।

मतलव यह कि जिस तरह असत्य की कोई स्वतन्त्र प्रतिष्ठा नहीं है उसे किसी न किसी सत्य के आधार पर ही खड़ा होना पड़ता है उसी

तरह हिंसक संगठन की भी कोई स्वतंत्र प्रतिष्ठा नहीं है। अहिंसक संगठन की नींव पर ही उसका निर्माण हो सकता है।

इतना तो हमें निर्विवाद रूप से मानना ही पड़ेगा कि स्वाधीनता प्राप्त होने पर अफ़गानिस्तान, रूस, जर्मनी, जापान वग़ैरा का मुकाबला करने के लिए हमें हिंसक साधनों से काम लेना पड़े या न पड़े, तो भी हमारे अपने देश का बलवान अहिंसक संगठन करना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना न तो हम हिंसा का बलवान संगठन कर सकेंगे और न आत्मरक्षा ही।

हिंसा के संगठन से हम युद्ध का साज-सामान, फौजी तालीम और वफ़ादार फौज—इतना अर्थ समझते हैं। इसमें युद्ध का साहित्य कितना और किस प्रकार का हो यह तो उस जमाने के वैज्ञानिक आविष्कारों पर निर्भर रहेगा। आखिर वह निर्जीव साधन है। वहां सवाल सिर्फ पैसे का और भंडार भरने का ही है। लेकिन फौज जीवित साधन है। इसलिए उसका उचित प्रकार से शिक्षित होना मुख्य चीज है। अगर आज्ञा पालन करनेवाले शिक्षाप्राप्त निष्ठावान सिपाही न हों तो सारे अद्यतन साधनों के होते हुए भी विजय प्राप्त नहीं हो सकती।

किसी भी देश में इस प्रकार के सैनिकों की संख्या कुल जनसंख्या का एक छोटा-सा अंश ही होती है। लड़ाई छिड़ जाने पर भी प्रत्यक्ष युद्ध-कार्य में लगे हुए सैनिक या सेना के साथवाले लोग बहुत नहीं होते। उनसे कई गुने ज्यादा सैनिकेतर नागरिक अपने-अपने घरों में होते हैं। वे कई तरह की असुविधाएँ सहकर और कई प्रकार का त्याग करके सारा काम चलाते हैं और सैनिकों की मदद करते हैं। सैनिक वर्ग में आम तौर पर केवल हट्टे-कट्टे नौजवान ही होते हैं, शेष सारी आबालवृद्ध जनता अहिंसक संगठन के द्वारा, लेकिन हिंसा में

श्रद्धा हो जाने के कारण युद्ध जारी रखने में मदद करती है। खुद त्याग करके सहायता करने की आम जनता की यह तत्परता ही बहुत बड़ी मात्रा में युद्ध की सफलता का कारण होती है। हिंसक युद्ध के लिए भी असैनिक जनता का यह अहिंसक संगठन अनिवार्य है।

आंकड़े देखने से विदित होगा कि सौ में पच्चीस आदमी भी हिंसा के प्रत्यक्ष कार्य में भाग नहीं लेते। लेकिन इन पच्चीस नौजवानों को मौका आने पर खून करने को प्रवृत्त करने के लिए हमें जनता के दिल में यह विकार निरन्तर पैदा करना पड़ता है कि मानो हिंसा ही जीवन-निर्वाह की कुंजी हो। सुनने में मजेदार मालूम हो, ऐसी युद्ध-कथाएँ रचकर जिन्हें हमने अपना दुश्मन मान लिया है उनके प्रति बचपन से ही द्वेष पैदा करने के लिए सच्ची और झूठी बातें गढ़ कर द्वेष-बुद्धि से ओतप्रोत वातावरण बनाना पड़ता है। इस सारे प्रयास का फल इतना ही निकलता है कि होनहार तरुणों का एक ऐसा छोटा-सा दल तैयार होता है जो विपक्ष के जितने आदमी हाथ उठा सकें उनके प्रति आततायी के जैसा व्यवहार करने के लिए प्रवृत्त होता है और मनुष्यों में स्वयोनि-शत्रुत्व रूपी विकृति जीवित रखता है। यह विकृति प्रकृति विरुद्ध, नीतिविरुद्ध, और अध्यात्मविरुद्ध है।

अब मान लीजिए कि व्यापक हिंसा करने के लिए प्रजा में जिस अहिंसक संगठन की आवश्यकता है, वह सब हम अच्छी तरह कर रहे हैं। सारी प्रजा में एकता स्थापित करते हैं। आपस के धार्मिक, प्रान्तीय, जातीय और आर्थिक कलह और अन्याय निपटाते हैं। जनता को स्वावलम्बन से अपने सारे काम करने की शिक्षा और प्रेरणा देते हैं। उसे संयम और परिश्रमशीलता की आदतें डालते हैं। एक दूसरे के लिए त्याग करने की निसर्गदत्त वृत्ति का सिंचन और अनुशीलन कर उसे पुष्ट

करते हैं। "मनुष्य जाति को दूसरे प्राणियों की अपेक्षा स्मृति, तर्क, विवेक, भाषा आदि की जो विशेष देन मिली है उसका उद्देश्य मनुष्य-जाति के एक छोटे-से अंश के भोग-विलास की सिद्धि नहीं है। बल्कि उसके द्वारा समग्र मानव-जाति का और दूसरे प्राणियों का भी हित-सम्पादन होना चाहिए।"—इस प्रकार के संस्कार भी देते जा रहे हैं तो जिस प्रकार हिंसक राज्य हिंसक सेना के लिए विकारवश जनता में से कुछ बहादुर और साहसी सिपाही पाने की उम्मीद रखते हैं, उसी प्रकार ऐसे संस्कारी जनता में से कुछ बहादुर, साहसी परन्तु अहिंसक सैनिक पानें की आशा क्यों न की जाये?

'प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च' की वृत्तिवाले बहादुरों की, ज़रूरत दोनों तरह के संगठनों के लिए होगी। दोनों में स्वदेशभक्ति की ज़रूरत समान होगी। परन्तु जहाँ हिंसक फौज को, जिसे उसने अपना शत्रु माना है उस जनता के प्रति घोर द्वेषबुद्धि से विकृत होना पड़ता है, वहाँ अहिंसक सेना को शत्रु के प्रति भी करुणा तथा दया की और उसके हित के लिए त्याग करने की प्रफुल्लतर वृत्ति का विकास अपनें अन्दर करना पड़ेगा। उचित पद्धति से प्रयत्न करने पर यह असम्भव क्यों माना जाये?

शूरता सिर्फ़ हिंसा में ही बसनेवाला गुण नहीं है। वह एक स्वतंत्रवृत्ति है। वह हिंसक मनुष्य में भी हो सकती है और अहिंसक मनुष्य में भी। हमारे देश के संतों ने यह भेद बहुत पुराने जमाने में ही जान लिया था।

सती, शूर अरु संत का, तीनों का एक तार।
जरे, मरे, सुख परिहरे, तब रीझे करतार॥
तब रीझे करतार, सबै संसार सहावे।
नहिं तो होत खुवार, हार जित सब ही जावे॥

दाखत ब्रह्मानन्द महा दृढ़ अचल मती का ।
तीनों का एक तार, शूर अरु संत, सती का ॥

६

अहिंसक संगठन की अमूल्यता

लेकिन इतने से शायद पाठक को संतोष नहीं होगा । वह कहेगा कि, "मान लीजिए कि सन्तों के वृन्द बनाने के अभिप्राय से आपने सिपाहियों की सेना नहीं बनायी । लेकिन आपकी अहिंसा-निष्ठ सेना प्रस्तुत होने से पहले ही कोई शत्रु हमारे देश पर धावा बोल दे तो देश की क्या हालत होगी ? आप तो लोगों को अहिंसा की ही सीख देते रहेंगे और उनपर उसी के संस्कार करते रहेंगे, तव सिपाहियत के लिए कठोरता के जिन गुणों की ज़रूरत है, उनका विकास कैसे होगा और ऐसी स्थिति में क्या हमारी फजीहत नहीं होगी ?"

थोड़ा विचार करने से मालूम होगा कि इस प्रकार का अन्देशा करने की वजह नहीं है । अहिंसक संगठन जितना दृढ़ होगा, उतना ही, उसकी वदौलत, मौका पड़ने पर, सशस्त्र फौज तैयार करना आसान होगा, न कि मुश्किल; क्योंकि जनता में एकता, सहयोग, त्यागवृत्ति, स्वावलम्वन आदि गुणों का विकास हुआ होगा और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनुशासनयुक्त वीरता का भी उसमें उत्कर्ष हुआ होगा । ऐसी जनता के लिए युद्ध का कर्तव्य उपस्थित ही हो जाये तो उसे सज्जित होने में देर नहीं लगेगी । अवतक सन्तों की सेना नहीं वन सकी, इसका इतना ही अर्थ है कि लोगों में किसी न किसी अंश में मारकवृत्ति विद्यमान है ।

इसके अलावा, सूक्ष्म हिंसा, यानी जीवनाभिलाषा, देहधारियों में से कभी पूर्णरूप से नष्ट नहीं होगी । वह अनुशासन में रह सकती है, विकृत

भी हो सकती है, किन्तु नष्ट नहीं होगी। संस्कृति की अपेक्षा विकृति में एक बड़ी भारी क्षमता यह है कि उसका वेग गुणाकार पद्धति से बढ़ता है। ऊपर चढ़ने के लिए हर कदम पर परिश्रम करना पड़ता है, शक्ति लगानी पड़ती है, लेकिन नीचे गिरने के लिए केवल एक धक्का काफी है। बाकी की सारी क्रिया उत्तरोत्तर अधिक वेग से अपने आप होती है। आवश्यकता तो उस वेग के नियमन की होती है। मतलब यह कि विकृति को अनुशासन के बन्धन की जरूरत है। सुसंगठित जनता में अहिंसा का अनुशासन थोड़ा-सा शिथिल होते ही हिंसा अपने आप ज़ोर पकड़ती है। इसलिए अहिंसा के संस्कार की बदौलत हिंसक शक्ति नष्ट होने का अन्देशा कतई नहीं है।

सच तो यह है कि प्राणिमात्र को जिस वस्तु का ज्ञान अनजाने, स्वाभाविक रूप से, मिलता रहता है,उसका महत्त्व तथा उसके विकास में पायी हुई सफलता या रही हुई त्रुटियाँ, वे विचार के बिना महसूस नहीं करते। परन्तु जिस चीज के पीछे उन्होंने कृत्रिमरूप से बहुत मेहनत की हो उसका महत्त्व और उसमें की हुई प्रगति वे कभी नहीं भूलते। हम अपनी मातृभाषा बाल्यावस्था से ही अनजाने सीखते रहते हैं। अन्य भाषाभाषी पड़ोसी हों तो उनकी भाषा भी बोलने लगते हैं; लेकिन उसका महत्त्व या उसमें की हुई तरक्की का अन्दाज लगाने की हमें कभी नहीं सूझती। लेकिन अंग्रेजी भाषा हम बड़ी मेहनत से सीखते हैं, इसलिए उसका महत्त्व महसूस करते हैं और उसमें की हुई तरक्की भी समय-समय पर नापते हैं।

अबोधपूर्वक हुई प्रगति और ज्ञानवृद्धि के विषय में हमें इतना अज्ञान होता है कि उसमें बुद्धिपूर्वक प्रगति करने की बात छेड़नेवालों को कभी-कभी विरोध का सामना करना पड़ता है। जिसके दोनों पैर साबित हैं,

उसके लिए चलना, दौड़ना या अटारी पर चढ़ना सहज है। वह समझता है कि इसमें सीखने की कोई बात ही नहीं। इसलिए अगर कोई व्यायाम-विशारद यह कहने लगे कि चलना, दौड़ना और चढ़ना भी एक कला है, जो हमें परिश्रम से सिद्ध करनी चाहिए, तो कई लोग उसपर हँसेंगे। परन्तु बिच्छूचाल चलना, तैरना, घोड़े पर सवारी करना, साइकिल चलाना आदि श्रमसाध्य कलाओं का महत्त्व हमारी समझ में तुरन्त आ जाता है।

अहिंसा-हिंसा पर भी यही नियम घटित होता है। संसार में अहिंसा की—दूसरे के लिए खुद खपने की—एक बलवान प्रेरणा जन्तुमात्र में स्वभाव से ही है। इसीलिए अनेक प्राणी झुंड बनाकर रह सकते हैं और दीमक, मधुमक्खी और चींटियों से लेकर मनुष्य तक अनेक जन्तु अपनी अपनी हैसियत के अनुसार व्यवस्थित समाजरचना तथा छोटी-बड़ी रूप-रचना भी करते हैं। उन सबमें नियमन, दंड, शासन आदि होते हैं सही लेकिन यह मानना ग़लत होगा कि हर घड़ी समाज इन्हीं की बदौलत चलता है। ये बातें अपवाद रूप हैं और जिस मात्रा में अहिंसक संगठन बलवान होगा उसी मात्रा में ये साधन कम काम में लाये जायेंगे।

इन उपायों के उपयोग की आवश्यकता दवा या इंजेक्शन की आवश्यकता के समान विकृति का लक्षण है। कभी-कभी विकृति संक्रामक बीमारी की तरह फैल सकती है। उस मौके पर इन उपायों को बड़े पैमाने पर और व्यवस्थित रूप में लाने की नौबत आती है। लेकिन इन कभी-कभी होनेवाली विकृतियों का इलाज करने के लिए मनुष्य-समाज ने हद से ज्यादा मेहनत की है। इसलिए उसकी ऐसी श्रद्धा हो गयी है कि विकृति का इलाज करना ही अध्यात्म है, वही ध र्म है और वही विज्ञान है, वही एकमात्र जीवनकला है, समाज-व्यवस्था और राज-

कारण में वही नीति है। दण्डनीति और युद्ध-कला के बड़े-बड़े जबरदस्त शास्त्र मनुष्यों ने बनाये हैं।

मैं मानता हूँ कि मनुष्य ने बड़ी मेहनत और सैकड़ों साल के तजुर्बे से ये शास्त्र बनाये हैं। लेकिन यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि समाज से जो दोष नष्ट करने के लिए यह उपाय-योजना करनी पड़ती है, वे दोष अबतक नष्ट क्यों नहीं होते ? कहा जाता है कि यूरोप से कोढ़ रोग बिलकुल मिट गया, चेचक भी जाता रहा है। इसलिए मैं यह माननें को तैयार हूँ कि जिन उपायों से ये बीमारियाँ नष्ट हुई उनमें कुछ उपाय-योजना थी। लेकिन स्वयोनि-शत्रुत्व के मर्ज पर ऐसा कोई असर होता हुआ नज़र नहीं आता। इसलिए मेरी यह धारणा है कि इसमें कोई-न-कोई गलती ज़रूर है।

यह नुक्स कौन-सा हो सकता है ? हमारे समाज-जीवन की नींव ही, जिसपर हमने यह सारा हिंसक संगठन का ढांचा खड़ा किया, कमज़ोर है। उसपर इमारत बनाने के पहले जितनी मेहनत ली गयी, जिन पत्थरों से उसे पाटा गया और जिन तत्त्वों से उन पत्थरों की जुड़ाई की गयी——वह सारा सामान रद्दी था; उसका वैज्ञानिक शोध भी ठीक-ठीक नहीं हुआ। उसपर मेहनत तो बहुत ही कम ली गयी। फलस्वरूप जिसप्रकार नालन्दा के विश्वविद्यालय की इमारतों की अटारियों और ऊपर के हिस्सों में भव्य और विशाल रचना होते हुए भी नींव की ज़मीन ही कच्ची होने के कारण कई बार इमारतें बनाने पर भी वे सब निकम्मी ठहरीं और उनको छोड़ देना पड़ा। उसीतरह हमारी समाज-रचना तथा संस्कृति का बाह्यरूप भव्य और शोभनीय दिखायी देता है; लेकिन ज्योंही वह पूर्णता को पहुँचना चाहता है, त्योंही अपने ही बोझ से दबकर ढह जाता है।

इसलिए हमें संस्कृति की वुनियाद का ही विचार करना चाहिए और उसीका शास्त्र पहले सीखना चाहिए। और अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि समाज-रूपी मंदिर की सुरक्षितता उसके अहिंसक संगठन पर निर्भर है न कि हिंसक संगठन पर। हरएक आदमी चल और दौड़ सकता है, लेकिन फिर भी चलने दौड़ने का एक खास शास्त्र है ही। उसी तरह प्राणिमात्र की कुदरती अहिंसा-वृत्ति का शास्त्रीय ढंग से अनुशीलन होना और समाज-रचना में उसका शास्त्रीय ढंग से संगठन होना ज़रूरी है। उसपर वनायी हुई इमारत भले ही देखने में सीधी-सादी लगे तो भी वह टिकाऊ और सुखदायी होगी; लेकिन कच्ची वुनियाद पर बनी हुई खूवसूरत लगनेवाली इमारत न तो मजवूत होगी और न आरामदेह।

चश्मा, वूट-सूट, वेंत और अपटूडेट वेष-भूषा से सजे हुए किसी चिररोगी युवक के विषय में यह कहना कि वह सलोना दीखता है, विरूप को सुरूप कहने के वरावर है। उसी प्रकार मनुष्यों की हिंसा पर मनुष्यों ने जिस समाज-रचना का निर्माण किया है, उसे संस्कृति के नाम से पुकारना विकृति को ही संस्कृति मानना है।

सव प्राणियों में हिंसावृत्ति भी है ही। जीवनाभिलाषा का ही वह दूसरा नाम है। लेकिन उसका इलाज हिंसात्मक संगठन नहीं वल्कि शास्त्र-शुद्ध अहिंसात्मक संगठन है। उचित उपायों और उचित ढंग से हरएक को जीवननिर्वाह का सुयोग मिले तो यह हिंसा-वृत्ति संतुष्ट हो जाती है। किसी व्यक्ति में एकाध मर्ज की तरह, या वाज दफा, सारे समाज में छूत की वीमारी की तरह, वह फट पड़े तो उसका निवारण करना चाहिए। लेकिन ऐसा करने में भी ऊपर-ऊपर के उग्र उपचार करने की अपेक्षा, 'व्यक्ति अथवा समाज की नींव में कहाँ कमजोरी पैदा हो गयी है'—इसी की धैर्य से खोज करनी चाहिए।

७

वीरता और अहिंसा

हम लोगों में इस वहम ने घर कर लिया है कि हिंसावृत्ति और शूरता एक ही गुण है और हिन्दुस्तान में अहिंसा पर ही बेहद ज़ोर दिया गया, इसलिए वह पराधीन होता गया।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि हिंसा और शौर्य ये दोनों बिल्कुल भिन्न वृत्तियाँ हैं। कोई जीव हिंसक होकर भी कायर हो सकता है और अहिंसक होकर भी बहादुर हो सकता है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि जहाँ हिंसा होती है वहाँ भय भी है। जिसमें स्पष्ट साहसिकता है ऐसी शूरता शायद अहिंसा के साथ हमेशा न पायी जाये। लेकिन वह अहिंसा के साथ होती ही नहीं ऐसी बात नहीं है। हिंसा, अहिंसा, साहस, शौर्य आदि एक वृत्ति के रूप में मनुष्य में सहज हैं। लेकिन गुण के रूप में वे मेहनत के साथ किये हुए अनुशीलन से ही प्रकट होते हैं।

यह कोई नहीं साबित कर सकता कि हमारे देश में किसी भी जमाने में वीरता का गुण बहुत कम रहा हो। कम-से-कम खास जातियों ने निरन्तर परिश्रमपूर्वक उसका विकास किया। लेकिन अहिंसा—विशेषकर संगठित सामाजिक अहिंसा—के गुण की कमी हमेशा पायी गयी है। चाहे महाभारत-काल का, चाहे राजपूतों का, चाहे मुग़लों का, चाहे सिक्खों या मराठों का इतिहास ले लीजिए। आप यही पायेंगे कि अश्वत्थामा-कर्णविवाद, शल्य-कर्ण विवाद, जयचन्दी फूट की परम्परा अविच्छिन्नरूप से चली आयी है। कुरुक्षेत्र के युद्ध से लेकर पानीपत के युद्धतक सेनापति के मरने पर सेना में अन्धाधुन्धी, आपस में लड़ाई और अन्त में पलायन—यही हमारा इतिहास रहा है। इसमें व्यक्ति की हैसियत से सेनापति या सैनिकों में वीरता का अभाव नहीं दिखायी देता। बहादुरी

और हिम्मत की कमी नहीं है। परन्तु प्रेम, अनुशासन और कर्तव्यबुद्धि की व्यापकता तथा उनका संगठन बिलकुल नदारद है।

वह नेताओं में ही नहीं है, इसलिए जनता में भी नहीं है। बुद्धि-भेद और वैमनस्य पैदा करनेवाला तर्ककौशल सदा सुलभ रहा है। लेकिन सबसे मेल करनेवाली बुद्धि और कर्मकौशल सदा दुर्लभ रहा है; क्योंकि हमारे अन्दर आम तौर पर अहिंसा एक असंस्कृत और मूढ़वृत्ति के रूप में होते हुए भी उसका सामाजिक अनुशीलन कभी नहीं किया गया।

हम बड़े गर्व से कहते हैं कि हमारे देश में 'अहिंसा परमोधर्मः' 'सत्यमेव जयते' आदि घोष (नारे) विद्यमान हैं। हमारे सन्तों ने ब्रह्मचर्य, संयम, इन्द्रियनिग्रह, आत्मानात्मविवेक, भूतदया, वैराग्य आदि का बार-बार और जोर से उपदेश किया है। इसलिए साधारण रूप से हमारी ऐसी धारणा हो गयी है कि हमारी आध्यात्मिक संस्कृति देश-व्यापी है। कोई-कोई तो ऐसा भी मानते हैं कि हमने इन गुणों का अतिरेक ही कर डाला है।

लेकिन इन उपदेशों का एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। जो गुण किसी समाज में व्यापक रूप में पाये जाते हों, उनका बार-बार उपदेश करने की प्रवृत्ति साधारणतः नहीं होनी चाहिए। जिन गुणों का समाज में अधिक अनुभव नहीं होता, मगर जिनकी आवश्यकता तो प्रतीत होती है; उन्हीं पर उपदेशक ज़ोर देगा। उपर्युक्त गुणों का सन्तों ने निरन्तर उपदेश दिया, इसका यही कारण हो सकता है कि उन्होंने समाज में इन गुणों का अस्तित्व पर्याप्त परिमाण में नहीं पाया। यह उपदेश करनेवाले सन्तों ने दूसरी भी कुछ बातें समय-समय पर कहीं हैं। उन्होंने कहा है कि "संसार स्वार्थमय है, हमारे आत्मीय और सगे-सम्बन्धी सभी अपना-अपना स्वार्थ देखते हैं, कोई किसी का निःस्वार्थ

आप्त नहीं है।" इससे यह पता चलता है कि उन्हें जीवन में क्या अनुभव होता था, पारमार्थिक वित्तवालों के लिए उस वृत्ति के विकास के रास्ते में हमारा समाज कौन कौन-सी कठिनाइयाँ उपस्थित करता था और इसलिए सबका त्याग करना ही एकमात्र मार्ग क्यों समझा गया?

इसके विपरीत हमें उन गुणों का भी विचार करना चाहिए जो हममें नहीं थे और न जिनके लिए हमारी भाषा में कोई शब्द ही थे। बल्कि जिनके समान वृत्तियों का हमारे सन्तों ने निषेध भी किया। उदाहरण के लिए, 'स्वदेशभक्ति' या 'स्वदेशाभिमान' शब्द हमारे पुराने साहित्य में नहीं पाये जाते। वर्णाभिमान, जात्यभिमान आदि का सन्तों ने प्रबल निषेध किया है; क्योंकि इस देश में ऐसा विरला ही कोई रहा होगा जो अपनी भूमि से प्रेम न करता हो। अपना खेत, अपना गाँव या अपना प्रान्त छोड़ने की वृत्ति हममें बड़ी मुश्किल से पैदा होती है। इनसे बिछुड़ने में हमें अत्यधिक दुःख होता है।

किसानों में तो इतना ज़बरदस्त भूमिप्रेम पाया जाता है कि खेत की क़ानूनी मालकियत से हाथ धो बैठने पर भी उसपर अपना कब्ज़ा जमाये रखने के लिए वे अपनी जान लड़ा देंगे। हमारा वर्णाभिमान और जात्यभिमान तो मशहूर ही है। स्मृतिकारों ने उसका इतना ज़बरदस्त शास्त्र बना रखा है कि बुद्ध और महावीर से लेकर आजतक हर-एक सन्त के उसकी निन्दा करने पर भी, हमारे समाज से उसकी प्रबलता नष्ट नहीं हुई।

बुद्ध से लेकर गांधी तक इस देश में जो महान् प्रवर्तक हुए उन सबने साधारण जनता के लिए पाँच ही नियम बतलाये हैं।—चोरी न करो, व्यभिचार न करो, शराब न पिओ, मांस न खाओ, झूठ न बोलो। इन पाँच में से मांस का निषेध करने की तो आज किसी की हिम्मत ही

नहीं होती। और अगर कोई हिम्मत करे भी तो उसकी कोई मानेगा नहीं। लेकिन इसपर से कि ढाई हजार वर्षों से हमें लगातार इन पाँच ही नियमों का उपदेश करना पड़ रहा है, हमारी सर्वसाधारण संस्कृति के रूप का पता चलता है।

मतलब यह कि, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि के विषय में हमारे देश में विपुल साहित्य और प्रचुर उपदेश उपलब्ध हैं। इससे यह अनुमान करना ग़लत होगा कि सत्त्वगुणसंपन्न सम्पत्ति हमारी जनता की प्रकृति ही है। इतना ही कहा जा सकता है कि हमारी प्रकृति को इन गुणों द्वारा संस्कृत करने का प्रयास सैकड़ों वर्षों से हो रहा है। अनेक महापुरुषों ने इसके लिए अपनी सारी उम्र बिता दी। लेकिन फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमने कोई विशेष प्रगति की। कारण यह कि उनके कार्य में विकृतिग्रस्त लोगों ने विघ्न डालने में कुछ उठा नहीं रक्खा। तथापि अहिंसा-प्रेरित मनुष्य उस प्रयत्न को छोड़ नहीं सकते।

८

वास्तविक आवश्यकता

"अगर जर्मनी या जापान का आक्रमण हो जाये तो हम कौन-सा अहिंसक इलाज करें यह आज ही बतलाओ।"--ऐसा प्रश्न अप्रासंगिक है। आज हमारे सामने जो प्रश्न उपस्थित है वह तो यह है कि "अंग्रेज़ों के और हमारे बीच परतन्त्रता का जो बन्धन है वह कैसे काटा जाये, और हम स्वाधीन किस तरह बनें?" हिंसावादी भी यह महसूस करते हैं कि इसका कोई व्यवहार्य हिंसक उपाय अबतक प्राप्त नहीं हुआ है। यह उन्हें भी मानना पड़ेगा कि जैसी कुछ अशुद्ध और स्थूल अहिंसा का हमने प्रयोग किया उसकी बदौलत हमें थोड़ी बहुत सफलता भी मिली। इसलिए हमारी अहिंसा शुद्ध भले ही न रही हो, लेकिन

व्यवहारचातुर्य तो इसी में है कि समझदार लोग हिंसा के बाल की खाल निकालने के बदले अहिंसा के सेनापति के बतलाये हुए तरीक़े से उसे शुद्ध और संगठित करने की कोशिश में जुट जायें।

अगर हम आजादी चाहते हैं तो सारा देश एक होना चाहिए। जात, पाँत, वर्ण, धर्म और प्रान्त के द्वेष नष्ट होने चाहिएँ, प्रजा का आन्तरिक व्यवहार न्याय और नीति के अनुसार चलना चाहिए। बलवानों को निर्बलों के लिए खपना चाहिए। उनके शोषण से बाज आना चाहिए। हरएक को पेटभर रोटी, शरीर-भर कपड़ा और आरामभर मकान मिलने का प्रबन्ध करने में सारे समझदार लोगों को एकमत हो जाना चाहिए। यह सब जुटाने करने के लिए व्यक्तिगत तथा समाजव्यापी अहिंसा की, यानी दूसरे के लिए सन्तोष, कर्त्तव्यबुद्धि और प्रेम से खपने की आवश्यकता है, न कि हिंसा या द्वेष की; जरूरत निःस्वार्थबुद्धि की है, न कि स्वार्थबुद्धि की। सर्वव्यापी ममता की है, न कि तंग दड़बों में बन्द किये हुए अहं-ममत्व के भाव की।

यदि हम अपने जीवन तथा संस्कारों में इस प्रकार की क्रान्ति कर सकें तो जर्मनी या जापान के आक्रमण से अपना बचाव करने की अहिंसक योजना भी हमें अपने आप सूझ जायेगी, क्योंकि यह क्रान्ति तो अहिंसा के अनुशीलन से ही हो सकेगी। तबतक आज कितना ही सिर क्यों न खुजायें, तो भी वह तरीका नहीं सूझेगा। जो कुछ सुझाया जायेगा वह अबोध कल्पना में शुमार होगा; क्योंकि उसको सुझाने के लिए जिस पूर्व-परिस्थिति की आवश्यकता है, वही आज नहीं है। आज बेतार के तार से एक क्षण में एक शब्द सारे संसार में भेजा जा सकता है। अब अगर कोई पूछ बैठे कि फर्ज कीजिए कि शब्द के समान एक विनाशक किरण भी दुनिया भर में फैलायी जा सके तो उससे अपनी

रक्षा का कौन-सा उपाय किया जाये ?—तो समझदार वैज्ञानिक इतना ही जवाब दे सकेगा कि पहले उस तरह का यन्त्र तो बनने दो, तब मेरे दिमाग़ में विचार आने लगेंगे।

आज हिंसक साधनों से हम अपनी रक्षा करते हैं। लेकिन उसके लिए हमारे पास कितनी सेना है, किस किस्म की कितनी तोपें, वायुयान, ज़हरीली वायु के गोले, मास्क आदि साधन हैं, वे कहाँ-कहाँ रखे गये हैं, अच्छी हालत में हैं या नहीं ?—इसकी चर्चा या जाँच-पड़ताल हम कहाँ करते हैं ? हिन्दुस्तान के सरकारी सेनापति से इस सम्बन्ध में कितनी जानकारी माँगते हैं ? हम तो यही मानते हैं कि जो लोग युद्धकला के विश्वासपात्र विशेषज्ञ हैं वे उचित प्रबन्ध करेंगे ही, और इस विश्वास से युद्ध के दिनों में भी निश्चिन्त होकर सोते हैं।

अगर अहिंसा के क्षेत्र में भी इसी प्रकार हमारी एक विशेष साधना हो जाये तो क्या उसके भी कुछ विशेषज्ञ पैदा नहीं होंगे ? हमारे देश में अहिंसाधर्म में प्रवीण और अहिंसा से जनता की रक्षा कर सकने का आत्मविश्वास रखनेवाला जो वीरपुरुष होगा उसीको हम अपना युद्धमंत्री बनायेंगे और उसकी सूचनाओं पर चलेंगे। तात्पर्य यह कि, 'जर्मनी के खिलाफ अहिंसक योजना क्या हो ?'—यह सवाल उतना महत्त्व नहीं रखता जितना महत्त्व यह सवाल रखता है कि हम अपने नित्य के जीवन के छोटे-बड़े कलह अहिंसा से किस प्रकार मिटायें ? अगर दो आदमियों में युद्ध करने के शास्त्र का आविष्कार हो जाये तो सैकड़ों और लाखों की लड़ाई का शास्त्र भी खोजा जा सकेगा। यही नियम अहिंसा पर भी लागू है।

अन्त में "गांधी-विचार-दोहन" से इस सम्बन्ध में दो परिच्छेद उद्धृत करके यह लम्बा लेख समाप्त करता हूँ :—

"अहिंसा में तीव्र कार्यसाधक शक्ति भरी हुई है। इस अमोघ शक्ति की अबतक पूरी-पूरी खोज नहीं हुई है! 'अहिंसा के समीप सारे वैर-भाव शान्त हो जाते हैं',—यह सूत्र शास्त्रों का कोरा पांडित्य ही नहीं है, वल्कि ऋषियों का अनुभव-वाक्य है। इस शक्ति का सम्पूर्ण विकास और सब अवसरों और कार्यों में इसके प्रयोग का मार्ग अबतक स्पष्ट नहीं हुआ है। हिंसा के मार्गों के संशोधनार्थ मनुष्य ने जितना सुदीर्घ उद्योग किया है और उसके फलस्वरूप हिंसा को वहुत बड़े परिमाण में एक विज्ञानशास्त्र-सा बना दिया है; उतना उद्योग यदि अहिंसा-शक्ति के संशोधन में किया जाये, तो मनुष्यजाति के दुःखों के निवारणार्थ यह एक अनमोल, अव्यर्थ तथा अन्त में उभय पक्षों का कल्याण करनेवाला साधन सिद्ध होगा।

"जिस श्रद्धा और अध्यवसाय से वैज्ञानिक प्रकृति के बलों की खोज-बीन करते हैं और उसके नियमों को विविध रूप से व्यवहार में लाने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही श्रद्धा और अध्यवसाय से अहिंसा की युक्ति का अन्वेषण तथा उसके नियमों को व्यवहार में लाने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।"[१]

---

१. 'गांधी-विचार-दोहन' : 'अहिंसा' १०,११

: ४ :

सामाजिक अहिंसा की बुनियाद

१

अहिंसा या बनियागिरी ?

१९३०-३२ के सत्याग्रह के दरमियान तथा बारदोली आदि के सत्याग्रह में लोगों ने अहिंसक वीरता के जो सबूत दिये, उनकी तारीफ सुनकर एक मित्र बोले, "जबतक हम यह तारीफ सिर्फ विदेशी लोगों को सुनाने के लिए करते हैं, तबतक तो ठीक है। लेकिन जब हम अपने घर में बैठकर बातें करते हैं, तब मेहरबानी करके इस वीरता की सराहना न कीजिएगा। सच पूछिए तो लड़ाई में जिस प्रकार की बहादुरी की जरूरत होती है, उसका आपको खयाल ही नहीं। उदाहरणार्थ, चारों तरफ दुश्मन के विमान (हवाई जहाज) मँडरा रहे हैं, ऐसी हालत में एक नौजवान अपना विमान लेकर अकेला उनके बीच घुसा चला जाता है। और यह जानते हुए भी कि उसका जिन्दा वापस आना नामुमकिन है, केवल शत्रु के एक या दो विमानों के नाश करने की आशा से ही वह इतना साहस करता है। अथवा, जिस बहादुरी से सबमेरीन (पनडुब्बी) में डुबकी लगाता है, उसकी बहादुरी के साथ आपके धारासणा के 'वीर' पुरुषों का क्या मुकाबला करें ? आज हमारे देश में से कितने नौजवान सबमेरीन या विमानी सैनिक की सिर्फ तालीम लेने के लिए भी तैयार होंगे ? दूसरे के बदन से खून निकलता हुआ देख बेहोश हो जानेवाले हम ब्राह्मण और बनिये अहिंसक वीरता तक पहुँच गये, इसका इतना ही मतलब समझना चाहिए कि हम कायरता से सिर्फ एक कदम आगे बढ़े हैं।

"अशोक की तरह से जो लोग हिंसात्मक जीवन में से अहिंसा की

ओर गये, उन जैसे अगर आप भी क्षत्रिय होते तो आपकी अहिंसा मुझे अद्भुत लगती। लेकिन जिस अहिंसा की आज आप तारीफ कर रहे हैं, वह सिर्फ़ आपकी हिंसा-शक्ति के अभाव का उपनाम है। मुझे शक है कि जब हिंसा का स्वाद आपको मिलेगा तब आपकी यह अहिंसा कहाँ तक टिकेगी ?"

स्वयं गान्धीजी के बारे में भी इसी प्रकार की शंका दूसरे रूप में प्रगट की गयी है। हाल ही में सर स० राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित 'गान्धी-अभिनन्दन ग्रंथ' में श्री एडवर्ड टामसन लिखते हैं:—

"वह गान्धी गुजराती हैं अर्थात् ऐसी जाति में उत्पन्न हुए हैं जो युद्धप्रिय नहीं रही है और जो विशेषतया मराठों द्वारा बहुधा पददलित की गयी और लूटी गयी है।···वह अहिंसा को जो इतना महत्त्व देते हैं, वह उनके एक शान्तिप्रिय जाति में जन्म लेने का लक्षण है। मेरा विचार है कि मराठे इस बात को कभी नहीं भूलते कि वे मराठे हैं और गांधी गुजराती हैं। राजपूतों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है, क्योंकि वह भी एक युद्धप्रिय जाति है।"

यह दलील बल्कि उलाहना मैंने पहिली बार नहीं सुना, इसलिए मैंने खुद अपने आपसे यह प्रश्न कई बार पूछा है, कि गांधीजी जिस अहिंसा का प्रचार कर रहे हैं और जो मुझ जैसे अनेक लोगों को मानो स्वभाव ही से पसन्द आती है, और हिंसा के प्रति जो घृणा पैदा होती है, यह क्या मुझमें जन्मतः रही हुई बनिये की डरपोक वृत्ति तथा वैष्णव संस्कारों का परिणाम है, या अहिंसा का—यानी मैत्री, प्रेम, करुणा आदि कोमल गुणों का—परिपाक है ?"

कुछ हद तक इस सवाल पर मन्थन करने के बाद मैं जिस नतीजे पर पहुँचा हूँ वह प्रस्तुत करता हूँ।

यह तो मैं विना संकोच के स्वीकार करूँगा कि युद्ध-विरोध अथवा शान्तिप्रियता कई पीढ़ियों से मेरा खून के द्वारा उतरा हुआ स्वभाव है। उसके अनुशीलन के लिए, स्वयं मुझे अशोक के जैसे अनुभवों में से जाने की या वुद्धि को वहुत कसने की जरूरत नहीं हुई। मेरे जिन पूर्वजों ने सैंकड़ों वर्ष पूर्व हिंसक विचारों को छोड़कर वौद्ध या जैन या वैष्णव संप्रदाय को स्वीकार किया होगा, वे वेशक इरादतन हिंसा से अहिंसा की ओर गये होंगे। अनेक पीढ़ियों तक अपने इस परिवर्तन को हृदय में दृढ़ करते-करते मेरे इन पूर्वजों ने अहिंसावृत्ति की जड़ अपने स्वभाव में इतनी मजवूत जमा दी कि वाद में वह मेरे लिए एक हद तक अपने प्रयत्न से प्राप्त करने की सम्पत्ति नहीं रही वल्कि पूर्वजोपार्जित सम्पत्ति के रूप में मुझे विरासत में मिली।

परन्तु सम्पत्ति पूर्वजोपार्जित होने ही से वह कोई कुसंपत्ति या विपत्ति तो नहीं हो जाती, और न उसमें शरमाने जैसी ही कोई वात होती है। हमारे लिए अपनी कोशिश से उस सम्पत्ति को वढ़ाना शक्य है। वैसा न किया जाये तो दूसरी भौतिक सम्पत्तियों की तरह यह भी क्षीण हो सकती है, और जिस तरह पुरखों के ज़माने का वर्तन धीरे-धीरे घिस-घिसकर फूट जाता है और फिर वह सिर्फ एक स्मारक का काम देता है, उसी तरह यह भी एक क्षीण और दुर्वल संस्कार वनकर रह सकता है।

तव मेरे लिए गौर करने का सवाल यह है कि, क्या मैं इस सहज-प्राप्त स्वभाव का ही अधिक विकास करूँ, या फिर से उस हिंसक स्वभाव को प्राप्त करने की कोशिश करूँ जिसका उसे एक कुसम्पत्ति समझकर मेरे पूर्वजों ने सोच-समझकर त्याग किया था ? क्या हिंसा से अहिंसाकी ओर जाने में मेरे पूर्वजों ने कुछ अमानुषिकता (गैरइंसानियत) की ?

यह सच है कि कुछ लोगों का ऐसा ही खयाल है। वे मानते हैं

कि आज एक ऐसा ज़माना आया है कि जिसमें हिन्दुस्तान या दूसरी किसी भी क़ौम का उद्धार हिंसक बनने से ही हो सकता है। लेकिन कोई भी मानव-हितचिंतक इस विचार का नहीं है। हिंसा में रही हुई भीषण पशुता को पूजनेवाला वर्ग इना-गिना ही है, हिन्दुस्तान में भी उनका क्षेत्र साफ नष्ट नहीं हुआ है। आज भी हिन्दुस्तान में लड़ाकू जातियाँ हैं। कई लोगों का कहना ह कि जिनमें लड़ाई की वृत्ति और कला है ऐसे लोगों के अभाव और न्यूनता के कारण ही हिन्दुस्तान परतन्त्र हुआ। लेकिन इस कथन में कुछ भी ऐतिहासिक सत्य नहीं है। इसलिए हिंसा द्वारा देश का उद्धार करने के सम्प्रदाय की तरफ़दारी के लिए कोई ज़ोरदार कारण नहीं है। सच्चा रास्ता तो आज भी वही है जो सदियों पहले हमारे बड़ों ने बताया था। वह है--'खून न करो', क्योंकि 'अहिंसा ही परम धर्म है।'

मतलब यह कि उन वंश और संस्कार द्वारा प्राप्त अहिंसावृत्ति के लिए शरमाने की कोई वजह नहीं। बल्कि जन्म ही से यह विरासत पाने के लिए ईश्वर और अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता भाव रखने के लिए पर्याप्त कारण है।

फिर भी मुझे यह भी क़बूल करना होगा कि मेरे अहिंसक स्वभाव के के साथ मुझमें बहुत-सी कमियाँ भी पैदा हो गयी हैं। वे ऐसी हैं कि ऊपर-ऊपर से वे अहिंसावृत्ति का ही परिणाम मालूम होती हैं। डरपोक-पन और शारीरिक साहस करने की हिम्मत का अभाव इन कमियों में मुख्य है। हिंसक आहार-विहार तथा जंगल के नज़दीक की बस्ती में इन कमियों को दूर करने के क़ुदरती मौक़े मिल जाते हैं। शिकार और लड़ाई-झगड़ों के बीच जिन्दगी बितानेवाले स्त्री-पुरुष अपना या दूसरे का रक्तपात देखने के बचपन से ही आदी हो जाते हैं। उस तरह का साहस

उनका रोज का जीवन हो जाता है। उनके लिए डरपोकपन और असाहस शरमाने योग्य चीज़ें हो जाती हैं, और उनके समाज में वैसे व्यक्तियों का तिरस्कार होगा। लेकिन ब्राह्मण-बनियों के समाज में अगर कोई आदमी हिम्मत करके अपना हाथ तोड़ ले या खतरे की जगह दौड़ कर चला जाये तो उसकी हिम्मत के लिए उसका जयकार नहीं किया जायेगा। बल्कि उससे कहा जायेगा कि क्यों इतनी बेवक़ूफ़ी करने गये ? इन समाजों में बच्चों को हौए और अँधेरे के डर में, और 'अरे गिर जायेगा' 'अरे, लग जायेगा' जैसी सावधानी की सूचनाओं के साथ ही बढ़ाया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा यह समाज कुछ का पुरुष सा बन गया है। इसमें शक नहीं कि यह बड़ी शरम की बात है।

परन्तु हम ठीक-ठीक सोचेंगे तो पता चलेगा कि ये कमियाँ अहिंसा का आवश्यक परिणाम नहीं हैं। हमारे पूर्वजों ने अहिंसा को स्वीकार किया यह तो अच्छा ही किया, लेकिन उस वक्त उन्हें यह बात न सूझी, और उस जमाने में सूझ भी नहीं सकती थी, कि जिस तरह हिंसक आहार-विहार के साथ साहस और शौर्य्य आदि गुणों का पोषण होता है और उनके संगठन का शास्त्र निर्माण होता है, उसी तरह अहिंसक जीवन के अप्रतिकूल तरीकों से इन्हीं गुणों के विकास के निमित्त इनके संगठन का शास्त्र भी खोजना होगा।

इसे कुछ विस्तार से समझ लेना चाहिए।

२
अहिंसा की वैज्ञानिक शिक्षा

अगर हम युद्धों के इतिहास बारीकी से पढ़ें तो मालूम होगा कि किसी भी लड़ाई में जीवन के लिए सिर्फ सिपाहियों की बड़ी संख्या, उनकी व्यक्तिगत बहादुरी और लड़ाई का अच्छे-से-अच्छा सरंजाम

काफी नहीं है। जीत के लिए एक बहुत ही महत्त्व की बात है सैनिकों का संगठन। युद्ध की परिभाषा में उसे उम्दा फौजी तालीम, कुशल सेनापतित्व और चतुर व्यूह-रचना कहा जायेगा। एक ओर बड़ी बहादुर और अच्छी तरह से साधन-सम्पन्न, मगर बिना तालीम और बिना सेनापति की दस हज़ार सिपाहियों की सेना हो, और दूसरी तरफ एक हज़ार ही सिपाहियों की फौज हो पर वह अच्छी तालीम पायी हुई और कुशल सेनापति के नेतृत्व में हो तो इतिहास में ऐसे कई उदाहरण पाये जायेंगे कि जहां छोटी सेना ने बड़ी सेना को हरा दिया। हिन्दुस्तान में कितनी ही लड़ाइयों में इन्हीं कारणों से अंग्रेजों की जीत हुई थी। फिर बहादुरी भी कोई व्यक्तिगत गुण नहीं है। 'प' 'फ' 'ब' 'भ'—सभी थोड़े-थोड़े बहादुर भले ही हों लेकिन अगर वे चारों लड़ाई की तालीम प्राप्त करें और कुशल सेनापति के नेतृत्व में एक होकर लड़ें तो उनकी बहादुरी का जोड़ सिर्फ चौगुना ही नहीं बल्कि कई गुना हो जायेगा। इसके विपरीत वे व्यक्तिगत रूप से बड़े ही शूर-वीर क्यों न हों फिर भी अगर हरएक आदमी अपने घमण्ड के खुमार में रहकर ही लड़ना पसन्द करे तो व्यक्ति के नाते बढ़िया पराक्रम दिखाने पर भी वे हारेंगे, और उनका कुल पराक्रम पहले चार की अपेक्षा कम होगा। शायद एकाध उसमें से निराश भी हो जायेगा। मतलब यह है कि इस तरह हिंसा का भी एक विज्ञान है और उसके अनुकूल उसका विकास करना पड़ता है। सब लड़ाकू जातियां इस बात को अच्छी तरह समझती हैं और इसीलिए तरह-तरह के उपायों से युद्ध-विज्ञान का विकास करने के लिए सैकड़ों वर्षों से मेहनत उठायी गयी है।

जिस तरह एक हिंसापरायण समाज में बचपन से ही लोगों में हिंसक वृत्ति पैदा करने, बड़ी उम्र में लड़ाई की तालीम देने और युद्ध

के समय उन्हें संगठित करने की जरूरत होती है, और इसलिए उसका व्यवस्थित शास्त्र बनाना पड़ता है, उसी तरह एक अहिंसा-परायण समाज को भी अपने लोगों में बचपन से अहिंसावृत्ति का पद्धतिपूर्वक विकास करने, उसकी तालीम देने और जब-जब प्रसंग उत्पन्न हों तब-तब उन्हें संगठित करने की ज़रूरत है। परन्तु यह बात अहिंसकों के ध्यान में भली भाँति आयी नहीं है। उल्टे अहिंसा-धर्मी ने आमतौर पर एकाकी और निवृत्तिमय जीवन बिताना ही पसन्द किया है। निवृत्ति में नम्रता, अभिमानशून्यता, अपमान, बलात्कार आदि की जानबूझकर तितिक्षा इत्यादि अहिंसा-पोषक वृत्तियों को बढ़ाने का प्रयत्न ज्यादा आसान होता है। प्रवृत्तिमय जीवन में यह साधना कठिन होती है। इसलिए योग्य तालीम के अभाव में जब प्रवृत्तिमय जीवन बितानेवाले अहिंसक लोग इन वृत्तियों के अनुकूल बर्ताव करने लगें, तब उससे कुछ विपरीत परिणाम निकले। इन विपरीत परिणामों को हम 'बनियागिरी' के तिरस्कारसूचक नाम से पुकारते हैं। इस शब्द से जिससे शरीर को भय हो वैसे किसी भी प्रकार के साहस के प्रति अरुचि, भय-स्थानों का दूर ही से त्याग, शरीर और सम्पत्ति बचाने के लिए चाहे जितनी अपमान-जनक स्थिति में रहने की तैयारी वग़ैरा कायरता के गुणों का समावेश किया जाता है। निवृत्ति में रहनेवाला अहिंसक यह चिन्ता करता है कि दूसरों की हिंसा न हो, लेकिन प्रवृत्ति में पड़ा हुआ अहिंसा-धर्मी खुद अपने शरीर की हिंसा न हो, इस रीति से अपनें जीवन की रचना करता है। भय से दस कोस दूर रहकर ही वह अपना अहिंसा-धर्म सँभालता है। इसका नतीजा यह हुआ कि अहिंसक को चाहे जो तमाचा जड़ दे, गालियाँ दे दे या लूट ले, वह 'बेचारा' बनकर चुप रहता है।

मगर ऐसा स्वभाव होते हुए भी प्रवृत्ति-परायण अहिंसा-धर्मी को

संसार में टिकने की इच्छा तो है ही। इसलिए बाहर से अहिंसा का त्याग किये बिना सूक्ष्म हिंसा करने की कुछ रीतियाँ उसने खोज ली हैं। खेती, गोपालन और (विशेषकर) व्यापार के द्वारा धन बढ़ाने की कला में उसने निपुणता प्राप्त की है। और उसमें हिंसा का गुमान करनेवाले को उसके मिथ्याभिमान द्वारा ही मिठास के साथ लूटने, बिना खून बहाये ही खून चूसने, कुटिल नीति से परास्त करने, और व्यक्तिगत कम-खर्ची और हिसाबी दान करने की युक्तियाँ निकाली हैं। इन सबका भी बनियागिरी में समावेश होता है। इस प्रकार की बनियागिरी का आभास देनेवाली बहुत-सी लोककथाएँ भी हैं। मतलब यह कि 'बनिया-गिरी' शब्द कायरता और चालाकी का मिलाप बताता है। ये सब अहिंसा के व्यवस्थित विकास के अभाव के परिणाम हैं।

इसका हमें संशोधन करना होगा और जो लोग स्वभाव से, धर्म के संस्कार से, अपनी सारासार विवेक-बुद्धि से या आखिर दूसरों द्वारा जबरदस्ती ही निःशस्त्र किये जाने से अहिंसक बनकर रहे हैं, उन्हें अपनी उस अहिंसा का एक बल के रूप में परिवर्तन करने का विज्ञान निर्माण करना होगा। चैतन्य का यह स्वभाव ही है कि वह चाहे जितनी कठिन परिस्थिति में मूल स्वभाव को बिना छोड़े अपना स्वत्व बराबर बनाये रखने की, अपना सम्पूर्ण विकास सिद्ध करने की और अपने ध्येय को प्राप्त करने की अचूक पद्धति खोज ही सकता है। इस शोध में अपने मुख्य स्वभाव पर बिल्कुल दृढ़ रहने के बजाय यदि वह उसे बदलने और दूसरे किसी स्वभाव को व्यर्थ अप-नाने की चेष्टा करता है, तो उतनी हदतक उस खोज में वह निष्फल होता है। चाहे आप डार्विन का 'उत्क्रान्ति-शास्त्र', क्रोपाटकिन का "संघर्ष या सहयोग", मैटरलिंक का 'दीमक' या 'मधुमक्खी का जीवन'

पढ़ें या किसी भी प्राणी के जीवन का अवलोकन करें; आप यही पायेंगे कि चैतन्य की इस शक्ति के द्वारा ही इस संसार में विविध योनियों के जीव अपना-अपना जीवन विता रहे हैं। जो लायक हो वह जीवे (सर्वाइवल ऑव द फिटेस्ट) का मतलब जो शरीर से बलवान हो, वही जी सकता है इतना संकुचित नहीं है; वल्कि ईश्वर-दत्त प्रकृति का एक शक्ति के रूप में परिवर्त्तन करके जो अपनी परिस्थिति का सामना कर सकता है, "वही जी सकता है" ऐसा होता है।

तात्पर्य यह है कि मुझे या मुझ-जैसे दूसरे सबों को हमारे स्वभाव में वंश-परम्परागत उतरी हुई अहिंसा का ही विकास करना चाहिए। इस अहिंसा का विकास करके स्वाभिमान, निर्भयता और सफलतापूर्वक हिंसा-वृत्ति के मनुष्य या प्राणी का सामना करने का मार्ग हमें खोजना चाहिए।

अब हम इसी का आगे विचार करेंगे।

३. अहिंसा के प्राथमिक नियम

अहिंसा-विज्ञान की खोज में नीचे लिखी वातें मेरी समझ में प्राथमिक नियमों के रूप में मानी जानी चाहिएँ।

(१) अहिंसा के ही विकास और संस्कार-द्वारा शक्ति पैदा करने का हमारा निश्चय होना चाहिए। तत्कालीन लाभ-हानि की दृष्टि से हिंसा के तरीके आजमाने से या हिंसा-वृत्ति पैदा करने की चेष्टा करने से यह शक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती।

(२) अहिंसा का डरपोकपन, असाहस आदि से तलाक कराना चाहिए और वचपन से ही अहिंसक साहस और वीरता बढ़ाने के उपायों की योजना करनी चाहिए।

(३) अहिंसा का एक व्यक्तिगत गुण या विभूति के रूप में ही नहीं, वल्कि सामाजिक शक्ति के रूप में विकास होना चाहिए। एक उदा-

हरण देकर इसे समझाता हूँ। 'दूरदर्शन' 'दूरश्रवण' आदि सिद्धियाँ योगाभ्यास की विभूति के रूप में कोई व्यक्ति प्राप्त करता है, यह प्राप्ति उसकी अपनी व्यक्तिगत ही रहती है; परन्तु विज्ञान-द्वारा प्राप्त तार, टेलीफोन, रेडियो आदि सिद्धियाँ सामाजिक हैं। अथवा एक दूसरा दृष्टान्त लीजिए। महाभारत में 'मोहास्त्र', 'आग्नेयास्त्र', 'वरुणास्त्र' आदि अनेक अस्त्रों का जिक्र है। भिन्न-भिन्न मन्त्रों के अधीन होने के कारण इन सब अस्त्रों का उपयोग उसी व्यक्ति द्वारा हो सकता था, जिसने वे मन्त्र सिद्ध किये हों। परन्तु आज के हिंसा के साधन वैज्ञानिक होने के कारण उनकी अपेक्षा बहुत ज्यादा समाजगत हैं। इसी तरह जिस अहिंसा को हमें सिद्ध करना है वह किसी 'राग-द्वेषविषातिरहित' 'पूर्ण विरागी' पुरुष द्वारा सिद्ध किये हुए गुण के रूप में नहीं, लेकिन सामाजिक जीवन व्यतीत करनेवाले, काम-क्रोधादिक विकारों से कुछ न कुछ पराभूत होनेवाले और फिर भी स्वभाव और बुद्धि दोनों से शान्ति चाहनेवाले लोग जिस तरह रेडियो या फ़ोन का उपयोग कर सकते हैं, उस तरह जिसका उपयोग कर सकें ऐसी अहिंसा सिद्ध करनी है।

(४) संगठन से पैदा होनेवाली हरएक सामाजिक शक्ति की एक मर्यादा हमें भूलनी न चाहिए। हमारा संगठन हिंसक हो या अहिंसक, एक हदतक उसमें जान-माल का खतरा रहता ही है। जब हम फौज द्वारा अपनी रक्षा करने की सोचते हैं तब हम यह अपेक्षा नहीं करते कि हमारे देश के एक भी व्यक्ति की मृत्यु के बिना और देश की कुछ भी हानि हुए बिना ही उसका बचाव हो जायेगा। लेकिन इस श्रद्धा से हम इन साधनों को जुटाते हैं कि थोड़ी-सी हानि सहन कर लेने से बहुत बड़ा लाभ होगा, अथवा सर्वस्व-नाश से बचने के लिए इतनी हानि सहना अनिवार्य है। अहिंसक संगठन के विषय में भी इसी तरह

सोचना चाहिए। अब उचित व्यवहार्य सवाल तो यह है कि समाज को अहिंसक संगठन से ज्यादा खतरा है या हिंसक संगठन से ? यद्यपि इसका निश्चित उत्तर तबतक नहीं दिया जा सकता जबतक कि हम एक निष्ठावान, कुशल और अहिंसक शिक्षण पाया हुआ समाज निर्माण नहीं कर सके हैं; तो भी, इतना तो ज़रूर कह सकते हैं कि इसमें हमें और हमारे शत्रु को भी आर्थिक और शारीरिक क्लेशों का कम से कम खतरा है।

(५) आज की परिस्थिति में हमारे देश में एक हदतक हिंसा और अहिंसा को साथ-साथ चलना होगा। संख्या में अहिंसक समाज बड़ा होने पर भी, हिंसक समाज बिल्कुल ही नगण्य नहीं है, और वह साधनों से सुसम्पन्न है। साम्राज्यवाद, वर्ग-विग्रह आदि नामों से हम जिसे पहचानते हैं उसका सच्चा स्वरूप यदि देखा जाये तो हिंसा के साधनों से सम्पन्नता और उसका अभाव ही हिंसक और अहिंसक समाजों की परिस्थितियों के बीच का भेद है। जो लोग हिंसा के साधनों से सम्पन्न हैं उनकी रक्षा की जिम्मेदारी की चिन्ता करने की अहिंसक समाज को जरूरत नहीं, बल्कि ज़रूरत तो यह है कि अगर वह साधन अहिंसक समाज के विरुद्ध प्रयुक्त किया जाये तो वह निकम्मा किस प्रकार किया जा सकता है ?

इसका ज्यादा स्पष्टरूप से विचार किया जाये तो शस्त्र, धन, शरीरबल, अधिकार, उम्र, लिंग, कौम, विद्या, बुद्धि, धर्म या दूसरे किसी बल का उपयोग, जो लोग उन बलों से वंचित हैं, उनकी सेवा और भलाई के लिए किये जाने के बदले जब उन कमजोर लोगों का दमन करने के लिए किया जाता हो, तो अहिंसक समाज के पास ऐसी शक्ति होनी चाहिए, कि जिससे वह उस गलत रास्ते से जानेवाली शक्ति को निकम्मा

ठहरा सके। याने निःशस्त्र, निर्धन, निर्बल, पराधीन, बालक, स्त्री, दलित, अनपढ़, मंदबुद्धि, साधु आदि लोगों की वह विशेष परिस्थिति एक कमी के रूप में नहीं बल्कि एक शक्ति के रूप में प्रकट होनी चाहिए। यह अनुभव तो थोड़ा बहुत सभी को है कि बालक, स्त्री और साधु अपनी स्थिति का शक्ति के रूप में सफल उपयोग कर सकते हैं। बाज दफा वह उपयोग शक्ति के भान से नहीं बल्कि लाचारी की भावना से होता है। कभी-कभी कपट से भी होता है। इसलिए उसमें गुस्सा, दुःख, दम्भ आदि दोष भी होते हैं। शायद इस ओर हमारा खयाल नहीं गया कि मनुष्य समाज में निर्बल, अपंग और निर्धन लोग अक्सर अपनी उस कमी की बदौलत ही अपना जीवन टिका सकते हैं। सांग और नीरोग भिखारी की अपेक्षा अंधे, लूले, लँगड़े, रोगी भिखारियों को क्यों ज्यादा दान मिलता है ? चारों ओर बेकारी हो तो भी इनकी यह अपंगता ही इन्हें जिलाने में समर्थ होती है। बहुतेरे भिखारी यह जानते हैं कि अपंगता भी एक शक्ति है, इसलिए जान-बूझकर अपंग बनने या अपने बालकों को अपंग करने की युक्तियाँ भी वे काम में लाते हैं। लेकिन ये सब मार्ग अज्ञान और वैयक्तिक संकुचित दृष्टि से खोजे गये हैं। उनका ज्ञानपूर्वक और समाज-हित की दृष्टि से शोधन नहीं हुआ। फिर भी, इन विकृत युक्तियों की एक निश्चित अनुभव पर रचना हुई है। वह यह कि प्रत्येक मनुष्य में कोमलता और समभाव होता है, दीन के प्रति बन्धुभाव और आदरभाव होता है, और जो उसे जाग्रत कर सकता है वह जीवन में निभ सकता है। कभी-कभी उसके बल पर अन्याय्य और अनुचित माँगें भी पूरी करा ली जाती हैं। तब जहाँ अपने पक्ष में न्याय हो वहाँ सफलता के विषय में संदेह की कम गुंजाइश है।

एक उपमा देकर इसे स्पष्ट करता हूँ। अहिंसक कलह अथवा सत्या-

ग्रह एक पुरुप और उसकी मानिनी स्त्री के झगड़े की तरह है। मानिनी अपने पति से रूठती है, लेकिन उससे द्वेष नहीं करती। अपने पति के अहित की इच्छा तो वह तनिक भी नहीं कर सकती। उसका त्याग करने के लिए नहीं वल्कि उसे और भी ज्यादा वश में करने के लिए वह उससे रूठती है। लेकिन इसके लिए वह उसके पैरों पड़ना, आजिजी करना, भीख माँगना या अपना स्वाभिमान खोना आदि उपाय नहीं करती। इस मूल वात को पकड़कर कि उसका पति उससे या वह अपने पति से प्रेम करती है वह अपनी शक्ति प्रकट करती है। मतलव यह कि जिस वात को हमारा प्रतिपक्षी एक विपत्ति या निःसहायता समझता है उसीको अपनी शक्ति वनाने में हमारी सफलता की कुंजी है।

(६) विग्रह चाहे हिंसक हो या अहिंसक, अन्त में जीत किस तरह होती है? शुद्ध द्वंद्व-युद्धों के कुछ प्रसंग छोड़ दें, तो दूसरे सव झगड़ों के अवलोकन से पता चलेगा कि जीत का अन्तिम आधार किसी पक्ष का स्थूल वल नहीं, वल्कि जैसे-जैसे विग्रह वढ़ता जाये वैसे-वैसे प्रतिपक्षी के दिल में हमारी शक्ति के प्रति आदर और खुद अपने प्रति अश्रद्धा या शंका आदि की वृद्धि है। अंग्रेज, देशी नरेश या किसी कौम के हृदय में हमसे लड़ते हुए भी अगर हमारे प्रति आदर वढ़ता रहे तो हम यह निश्चय मानलें कि अन्त में जीत हमारी ही होगी। मगर यदि उनके दिल में हमारे प्रति अनादर वढ़ता जाये तो एकाध वार वे हमारी शरण में आ भी जायें तो भी हमें समझना चाहिए कि वे फिर लड़ने खड़े होंगे। यह आदरवुद्धि हिंसक और अहिंसक साधनों के अनुसार अलग-अलग निमित्तों से पैदा हुई है। हिंसक साधनों में जिन निमित्तों के जरिये स्वनाश का डर पैदा होता है, उनके कारण आदर वढ़ता है। अहिंसक साधनों में हमारे चारित्र्य का परिचय होने से

आदर बढ़ता है। "आदर-वृद्धि" को संस्कृत में 'भय' भी कहते हैं (अंग्रेजी में इसके लिए 'ऑ' (Awe) शब्द है) इसी अर्थ में ईश्वर को "भयानां भयं" कहा है—अर्थात् आदरणीयों के भी आदरणीय। यही अर्थ इस कहावत का भी है कि 'भय बिनु होइ न प्रीति'। आजकल हम 'भय' शब्द से सिर्फ "आपत्ति का डर" ही समझते हैं। पर यह संकुचित अर्थ है। दशरथ-सा बाप और राम-सा पुत्र हो तब भी पुत्र के मन में पिता के लिए एक तरह का आदर-युक्त भय रहता है। गुरु इनाम देनेवाले हैं, यह जानते हुए भी विद्यार्थी उनके पास जाते हुए अक्सर काँपता है। इस तरह अपने से श्रेष्ठ पुरुष के लिए आदर के कारण डर होता है, ऐसा आदर-रूप भय होने में दोष नहीं है और आखिर में इस प्रकार का भय ही कलह का अन्त करता है। इस अर्थ में 'भय बिनु होइ न प्रीति' वाली कहावत ठीक ही है। यदि कांग्रेस की ओर देखें तो साफ़ मालूम होगा कि जितने अंश में उसके प्रति विपक्षी या जनता के दिल में आदर है, उतनी ही उसकी शक्ति है।

मतलब यह कि हिंसक दल की तरह अहिंसा का ध्येय भी प्रतिपक्षी के दिल में आदर उत्पन्न करता है। इसके लिए शरीर, मन और वाणी का संयम, धन और स्त्री के विषय में उच्च शील, सरलता, अगुप्तता, प्रतिपक्षी को सम्पूर्ण अभय दान अपने पक्ष के अनुशासन का उत्कृष्ट पालन, उद्योगिता, विविध त्याग, कष्ट-सहन आदि उसके साधन हैं। और क्योंकि इनमें पशुबल का त्याग है इसलिए ये ही अहिंसा के साधन हैं। इसमें वाणी का ज़हर, गुप्त चालबाजी, प्रतिपक्षी को धोखा देने, डराने, परेशान करने आदि की हिकमतें, आलस, चोरी, तिकड़म, स्वार्थ-साधन आदि बाजियों का प्रयोग सफल हो जाये तो भी ये सब छल-प्रपंच अनादर उत्पन्न करनेवाले होने के कारण अहिंसक युद्ध में आखिर हमारी

ही हानि करते हैं। इस तरह अहिंसक युद्ध में उच्च चरित्र जीत के लिए अनिवार्य है।

(७) और एक महत्त्व की बात यह है कि अहिंसक मार्ग पर रहनेवाले समाज को अपने मन में यह खूब अच्छी तरह समझना चाहिए कि कितना ही विकट और जीवन-मृत्यु का विग्रह क्यों न हो उसमें प्रतिपक्षी के अहित की इच्छा नहीं की जा सकती, जिससे उसके मन में हमारे प्रति क्रोध, तिरस्कार या वैर पैदा हो ऐसी भाषा या व्यवहार लड़ाई के दौरान में भी नहीं किया जा सकता। उसका जान-माल खतरे में है, ऐसी दहशत उसके दिल में नहीं पैदा की जा सकती।

(८) और अंत में सबसे बड़ी बात है चैतन्य में श्रद्धा। सब बाह्य शक्तियों का उद्भव चैतन्य से है और उसीमें उसकी स्थिति है। बाह्य साधनों की वह माता है, और उनपर प्रभुत्व रखती है। किसी भी परिस्थिति को वश में करने के लिए आवश्यक रूप में बाह्य शक्ति प्रकट करने की वह क्षमता रखती है। जो एकाग्रता से उसकी खोज करता है उसके द्वारा वह प्रकट होती है और फैलती है। हिंसक साधनों की खोज के लिए मेहनत उठानेवालों के सामने उन रूपों में वह प्रकट हुई है, अहिंसक तप करनेवालों के सामने उनके अनुकूल रूपों में प्रकट होगी।

: ५ :

अहिंसा की कुछ पहेलियाँ

अहिंसा के बारे में कभी-कभी गहरे और जटिल सवाल किये जाते हैं। इनमें से कुछ का मैं यहाँ थोड़ा विचार करना चाहता हूँ।

(१) प्रश्न—पूर्णता प्राप्त किये बग़ैर सम्पूर्ण अहिंसा शक्य नहीं है। गांधीजी खुद भी अपनी अहिंसा को अधूरी मानते हैं। तो फिर सारे समाज को या हमारे जैसे अपूर्ण व्यक्तियों को अहिंसा की सिद्धि किस तरह मिल सकती है ?

उत्तर—कभी-कभी बहुत गहरे विचार में उतर जाने से हम गगन-विहारी बन जाते हैं। कसरत करनेवाला हरएक व्यक्ति दौड़ती हुई मोटर रोकने, या चार-पाँच मन का पत्थर छाती पर रखने, या गामा की बराबरी करने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। फिर भी, यह मुमकिन है कि इन लोगों से भी बढ़कर कोई पहलवान दुनिया में पैदा हो। अगर इन्हीं को शारीरिक शक्ति का आदर्श माना जाये तो साधारण आदमी—चाहे वह कितनी भी मेहनत से शरीर मजबूत करने की कोशिश करे, तो भी—अपूर्ण ही रहेगा। तब क्या आम जनता के लिए जो अखाड़े हैं वे बन्द कर दिये जायें ? उत्तर साफ़ है कि 'नहीं'; क्योंकि अखाड़ों का मुख्य उद्देश्य गामा-जैसे पहलवानों को ही निर्माण करना नहीं है; बल्कि साधारण दुनियादारी में सैकड़ों आदमियों को जितने और जिस प्रकार के शारीरिक विकास की जरूरत हो उतना और उस प्रकार का विकास कराना है। जो व्यायामशाला यह करा सकती है उसे हम सफल संस्था कहेंगे, चाहे उसके सौ साल के इतिहास में उसमें से एक भी गामा या राममूर्ति भले ही न निकला हो। इन अखाड़ों

में गोर्सां और रामंमूर्तियों का सम्मान, तथा मार्गदर्शक की हैसियत से उपयोग हो सकता है, लेकिन उन जैसा बनने की सबकी महत्त्वाकांक्षा नहीं हो सकती। उसके उस्ताद के लिए भी वह कसौटी नहीं हो सकती।

एक दूसरा उदाहरण ले लीजिए। सेनापति में युद्ध-शास्त्र की जितनी काबलियत चाहिए उतनी हर एक छोटे अमले में, तथा छोटे अमले जितनी काबलियत सामान्य सिपाहियों में हो, ऐसी अपेक्षा कोई नहीं करेगा। उसी तरह अगर गांधीजी की अहिंसावृत्ति हर एक कार्यकर्ता अपने में पा न सके, अथवा कार्यकर्त्ता की लियाकत साधारण जनता में आना सम्भव न हो, तो इसमें घबराने की कोई बात नहीं। इससे उलटी स्थिति की अपेक्षा करना ही गलत होगा। ज़रूरत तो यह खोजने की है कि अहिंसा की कम-से-कम तालीम कितनी और किस तरह की होनी चाहिए? उससे अधिक लियाकत रखनेवाला मनुष्य एक छोटा नेता, या गांधी या सवाई गांधी भी बन सकता है। वैसी सदभिलाषा व्यक्तियों के दिल में भले ही हो, लेकिन जो उसतक नहीं पहुँच सकता उसे निराश होने की ज़रूरत नहीं। उसके लिए परीक्षा की कम-से-कम लियाकत हासिल करने का ही ध्येय रखना काफ़ी है।

(२) प्रश्न—जिसे क्रोध आता हो, जो गुस्से में कभी बच्चों को पीट भी लेता हो, जिसकी किसी के साथ बोल-चाल भी हो जाती हो, ऐसा शख्स क्या यह कह सकता है कि उसकी अहिंसा-धर्म में श्रद्धा है?

उत्तर—हम इस वक्त जिस प्रकार की और जिस क्षेत्र की अहिंसा का विचार कर रहे हैं उसमें "गुस्से के मानी में क्रोध" और "द्वेष वैर, ज़हर, के मानी में क्रोध" का भेद समझना ज़रूरी है। मा, बाप, शिक्षक आदि कभी-कभी बच्चों पर गुस्सा करते हैं और उन्हें सज़ा भी देते हैं। रास्ते पर पानी के नल या कुएँ पर कभी-कभी स्त्रियों में

बोलचाल हो जाती है। पड़ोसियों में एक का कचरा दूसरे के घर में उड़ने जैसी छोटी-सी बात पर भी झगड़ा हो जाता है। बुढ़ापे या बीमारी में अनेक लोग बदमिजाज हो जाते हैं और छोटी-छोटी बातों से चिढ़ते हैं। यह सब क्रोध ही है और दुर्गुण भी है। फिर भी, इतने से हम इन लोगों को द्वेषी, ज़हरीले, या वैरवृत्तिवाले नहीं कहेंगे। उलटे कई बार यह भी पाया जायेगा कि खुले दिल के और सरल स्वभाव के लोगों में ही इस प्रकार का क्रोध ज्यादा होता है और कपटी आदमी ज्यादा संयम बताते हैं। इस प्रकार का गुस्सा जिसके प्रति प्रेम और मित्रभाव हो उसपर भी होता है। बल्कि उसीपर ज्यादा जल्दी होता है; पराये आदमी पर कम होता है। यह स्वभाव शिक्षा, संस्कार वगैरः की कमी का परिणाम है, द्वेषवृत्ति का नहीं। अहिंसा-धर्म में प्रगति करने और उसके एक आदरपात्र सेवक और अगुआ बनने के लिए यह त्रुटि जरूर दूर होनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं कि ऐसी त्रुटि होने के कारण कोई आदमी अहिंसा-धर्म का सिपाही भी नहीं हो सकता। अहिंसा के लिए जो वस्तु महत्त्व की है वह है अद्वेष या अवैरवृत्ति। किसी ने कुछ नुकसान या अपमान किया हो तब उसका बदला किस तरह लें, उसे नुकसान किस तरह पहुँचायें, आदि के विचार जिसके मन में आते रहते हैं और जो उस बात को भूल ही नहीं सकता बल्कि बदला लेने के मौके ही ढूँढ़ता रहता है और उस आदमी का कुछ अनिष्ट हो तो खुश होता है, उसके दिल में हिंसा, द्वेष या वैर की वृत्ति है। क्रोध आये, शोक भी हो, फिर भी, अगर मन में ऐसे भाव न उठ सकें तो वह अहिंसा है। नुकसान करनेवाले का बुरा न चाहने की शुभ वृत्ति जिसके दिल में है वह प्रसंगवशात् क्रोधवश होता हो, तो भी वह अहिंसा-धर्म का उम्मीदवार हो सकता है। यह दूसरी बात है कि जितनी

हदतक वह अपने गुस्से को रोकना सीखेगा उतना ही वह अहिंसा में ज्यादा शक्ति हासिल करेगा। तात्त्विक दृष्टि से यह कह सकते हैं कि इस 'चिढ़ के क्रोध' और 'वैर के क्रोध' में सिर्फ़ मात्रा का ही भेद है। फिर भी यह भेद उतना ही बड़ा और महत्त्व का है जितना कि नहाने लायक गरम पानी और उबलते हुए गरम पानी के बीच का है।

(३) प्रश्न——बहस या भाषणों में प्रतिपक्षी का मज़ाक उड़ाने, वाग्बाण चलाने या तिरस्कार की भाषा इस्तैमाल करने में जो अहिंसा-भंग होता है वह किस हदतक निर्दोष माना जाये?

उत्तर——मान लीजिए कि हिंसा का सादा अर्थ है घाव करना। जो प्रहार दूसरे को घाव के जैसा मालूम होता है, वह हिंसा है; फिर वह हाथ-पैर या शस्त्र से किया हो, या दिल में छिपी हुई बद दुआ से हो। स्थूल घाव जब सीधी छुरी का होता है तो कम चोट करता है। टेढ़ी बरछी का हो तो बदन का ज्यादा हिस्सा चीर डालता है। तकली की तरह नुकीला शस्त्र हो तो उसका घाव और भी ज्यादा खतरनाक होता है। उसी तरह शब्दों का घाव सीधा हो तो जितनी इजा देता है उससे बाह्य दृष्टि से विनोदात्मक, लेकिन तिरस्कार और वक्रतायुक्त शब्द ज्यादा चोट पहुँचाता है। जो प्रतिपक्षी के नाजुक भाग को जख्म पहुँचाता है, वह घाव ही है। और यह तो हम जान सकते हैं कि हमारा शब्द किसी आदमी को महज विनोद मालूम होगा या प्रहार। इसलिए अहिंसा में ऐसे प्रहार करना अनुचित है।

(४) प्रश्न——अहिंसा में अपनी व्यक्तिगत अथवा संस्था की रक्षा, अथवा न्याय के लिए पुलिस या कचहरी की मदद ली जा सकती है या नहीं? चोर, डाकू या गुण्डों के हमले का सामना बल से कर सकते हैं या नहीं? अहिंसावादी स्त्री अपनी इज्जत पर आक्रमण करनेवाले

पर प्रहार कर सकती है या नहीं ?

उत्तर--यहाँ पर सामान्य जनता और प्रयत्नपूर्वक अहिंसा की उपासना करनेवाले में कुछ भेद करना चाहिए। जो अपेक्षा एक विचारशील अहिंसक कार्यकर्मी से की जाती है वह सामान्य जनता से नहीं की जाती। मतलब, सामान्य जनता के लिए अहिंसा की मर्यादा कुछ मोटी होना अनिवार्य है। इसलिए अगर हम इतना ही विचार करें कि सामान्य जनता के लिए अहिंसा-धर्म का कब और कितना पालन जरूरी समझना चाहिए तो काफ़ी होगा। समझदार व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति के मुताबिक इससे आगे बढ़ सकते हैं।

इस दृष्टि से, अहिंसा के विकास के मानी हैं जंगल के कानून में से सभ्यता अथवा कानूनी व्यवस्था की ओर प्रयाण। अगर हर एक आदमी अपने भय-दाता या अन्यायकर्ता के सामने हमेशा बन्दूक उठाकर या आदमियों को इकट्ठा करके ही खड़ा होता रहे तो वह जंगल का कायदा कहा जायेगा। इसलिए जहाँ पुलिस या कचहरी का आश्रय लेने के लि भरपूर समय या अनुकूलता हो वहाँ जो शख्स अहिंसा की उच्च मर्यादा का पालन नहीं कर सकता, वह उनका आश्रय ले तो समाज के लिए आवश्यक अहिंसा की मर्यादा का पालन हुआ माना जायेगा। जहाँ वैसा आश्रय लेने की गुंजाइश न हो (जैसे कि जब चोर या हमला करनेवाला प्रत्यक्ष सामने आया हो) वहाँ वह अपनी आत्मरक्षा के लिए और गुनहगार को पुलिस के हवाले करने की गर्ज से उसे अपने वश में लाने के लिए, जितना आवश्यक हो उतने ही बल का उपयोग करे तो उसमें होनेवाली हिंसा क्षम्य मानी जायेगी। मगर बात यह है कि आमतौर पर लोग उतने ही बल का प्रयोग नहीं करते। कब्जे में आये हुए गुनहगार को बुरी-बुरी गालियाँ देते हैं और तनी बुरी

तरह पीटते हैं कि बाज़ दफ़ा वह अधमरा होजाता है। यह हिंसा अक्षम्य है; यह हैवानियत है। समाज को ऐसे वर्ताव से परहेज़ रखने की तालीम देना ज़रूरी है। अहिंसा-पसन्द समाज के लिए यह समझ लेना ज़रूरी है कि हरेक गुनहगार को एक प्रकार का रोगी ही मानना चाहिए। जिस तरह तलवार लेकर दौड़ते हुए किसी पागल को या सन्निपात में उद्दंडता करनेवाले किसी रोगी को जबरदस्ती करके भी वश में लाना पड़ता है, उसी तरह चोर, लुटेरे या अत्याचारी को पकड़ तो लेना होगा; लेकिन पागल या सन्निपातवाले मरीज़ को वश में करने के बाद हम उसे पीटते नहीं रहते। उल्टे, उसको रहम की दृष्टि से देखते हैं। यही दृष्टि दूसरे गुनहगारों के प्रति भी होनी चाहिए। उसे हम पुलिस को सौंपते हैं इसके मानी ये हैं कि वैसे रोगियों का इलाज करनेवाली संस्था के हाथ में हम उसे दे देते हैं। यह सच है कि यह संस्था भी आज ऐसे ही अज्ञानी उस्तादों की बनी हुई है, जो पुराने जमाने के शिक्षकों की तरह यह मानते हैं कि "चमोटी लागे चमचम, विद्या आवे झमझम।" लेकिन यह दोष समाज-विज्ञान के और अहिंसा के विकास के साथ सुधरनेवाली चीज़ है। यह संस्था सुधरकर एक प्रकार की अस्पताल, पाठशाला या खास बस्ती भले ही बन जाये और उसका नाम भी भले ही बदल दिया जाये, फिर भी गुनहगारों का कब्ज़ा लेनेवाली संस्था तो वही रहेगी।

सामाजिक दृष्टि से हिंसा-अहिंसा का जो वाद है, उसे इस तरह की अनिवार्य आत्म-रक्षा के विषय में छेड़ने की जरूरत नहीं है। परन्तु सच्चे, या माने हुए, हकों की प्राप्ति और कर्तव्यों की अदाई के बारे में ही इसका विचार करने की जरूरत है। हम हिन्दुस्तानी लोग कहते हैं "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" मुसलमान कहते हैं, गाय, की

कुर्बानी करना हमारा हक है।" अथवा 'मसजिद के आसपास शांति रखना हमारा कर्तव्य है।' हिन्दू कहते हैं, 'बाजे बजाना हमारा हक है' या 'गो-हत्या रोकना हमारा कर्तव्य है।' सवर्ण कहते हैं, 'हरिजनों को दूर रखना हमारा धर्म है।' हरिजन पक्षपाती कहते हैं 'समानता उनका हक है'—इसी तरह मज़दूर, किसान, मालिक, जमींदार, राजा, प्रजा, और भिन्न-भिन्न राष्ट्र अपने हक या कर्तव्य का दावा एक दूसरे के सामने पेश करते हैं।

हक या कर्तव्य की यह बुद्धि व्यक्तिगत हो, छोटी या बड़ी कौम की हो या सारे राष्ट्र की हो, उसका फैसला करने का अन्तिम साधन कौन सा है? जबरदस्ती मारपीट? युद्ध? अगर हम यह कहें कि हमारा विश्वास अहिंसा में ही है, तो उसके मानी होते हैं, इन साधनों का त्याग। किसी भी हक को हासिल करने, या कर्तव्य को अदा करने के लिए गाली-गलौज, जबरदस्ती, मारपीट, युद्ध, तोड़फोड़, आग-अंगार आदि नहीं किये जा सकते। प्रतिपक्षी के प्रति तिरस्कार नहीं बताया जा सकता और उसके दिल में दहशत भी नहीं पैदा की जा सकती। इतनी बातों को अच्छी तरह समझकर तदनुसार बर्ताव करने का नाम है 'अहिंसा की तालीम'। यह तालीम यदि कार्यकर्ता और आम जनता को मिल जाये तो कह सकते हैं कि लोग अहिंसात्मक आन्दोलन के लिए तैयार हैं। १९३० के, तथा चम्पारन, बारडोली, बोरसद आदि के सत्याग्रहों में साधारण जनता इस बात को इशारे से ही समझ गयी थी। उसने एक खासी हदतक उसी तरह बर्ताव भी रक्खा था। उस वक्त इस शर्त की हँसी करनेवाले या उसकी आवश्यकता पर शंका करनेवाले, या उससे असंगत आन्दोलन करनेवाले कोई नेता न थे। आज वह वायु-मण्डल नहीं है। उस वायुमण्डल को फिर से पैदा करना और लोगों में

एसा एक वलवान निष्ठा कायम करना कि जिससे कितनी ही विपरीत बातें कही जाने पर भी वे किसी भी हक या धर्म के लिए अहिंसा की मर्यादा न तोड़ें अहिंसावादी सेवक का ध्येय है। आम लोगों के लिए अहिंसा-धर्म की इससे अधिक गहरी व्याख्या में उतरने की जरूरत नहीं।

अहिंसा-शक्ति के प्रयोग की खोज करनेवाले सेवकों को बेशक ज्यादा गहरे अर्थ में उतरना होगा। इसलिए जिन प्रसंगों में आम लोगों को पुलिस, कचहरी या वल का आश्रय लेनें की छूट हो सकती है, वहां पर भी वह अहिंसक इलाज को ही आजमानें का, या नुकसान सहन कर लेने का संकल्प कर सकता है। जब यह संकल्प वह अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध में करेगा तभी तो अपनी संस्था के लिए करने का अधिकार उसे हो सकता है। बल्कि यह भी हो सकता है कि व्यक्तिगत मामलों में इस संकल्प पर चलते हुए भी अपने अधीन सार्वजनिक संस्था के सम्बन्ध में वह उसपर न चले। यह बात हरएक कार्यकर्त्ता की अपनी अहिंसावृत्ति और प्रयोग के प्रति निष्ठा की दृढ़ता पर अवलंबित है।

(५) **प्रश्न**––जहां कौमी झगड़े न हों वहां अहिंसा को मुख्य काम किस तरह वनाया जा सकता है, और अहिंसक इलाज की खोज किस तरह की जा सकती है ?

उत्तर––कौमी झगड़े का अर्थ सिर्फ हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा ही न किया जाये, वल्कि झगड़ा-झमेला करनेवाले दो पक्ष जहांपर हैं वहां कौमी झगड़े का अस्तित्व माना जाये। इस अर्थ में हमारे कमनसीव देश में शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र मिलेगा जहां यह स्थिति न हो। फिर जहांपर सवल निर्बल को सताता है वहां दो पक्ष पैदा हुए न हों तो भी अहिंसक इलाज की खोज के लिए क्षेत्र है। उदाहरणार्थ, कुछ स्थानों में परम्परागत प्राचीन रूढ़ि से कुलीन मानी गयी जातियां, नीच कही जानेवाली जातियों पर

इस प्रकार पद्धतिपूर्वक हुक्म चलाती हैं, और उनको ऐसी दहशत में रखती आयी हैं कि उन दलित जातियों में अपना एक पक्ष निर्माण करने की भी हिम्मत नहीं है। बाहरी दृष्टि से कह सकते हैं कि यहाँ न कौमी झगड़े हैं न वे पक्ष। लेकिन सचमुच में यह स्थिति झगड़े से भी ज्यादा भयंकर है और कभी न कभी तीव्र झगड़े का स्वरूप ले लेगी। यहाँपर दलित वर्ग में अहिंसा-युक्त जागृति करना और अधिकारभोगी वर्ग में कर्तव्य का भान पैदा करना सेवक के कार्यक्षेत्र में आ जाता है। जो इसका इलाज ढूंढ सकेगा वह हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों का अन्त करने के इलाज की शोध में भी अपना हिस्सा अदा करेगा।

: ६ :

अहिंसा की मर्यादाएँ

"क्या अहिंसा की शक्ति अपरिमित है ? हम जो-जो उद्देश्य अपने सामने रखें, वे सब क्या अहिंसा से सिद्ध हो सकते हैं ? क्या एक मर्यादा के बाद हमें कामयाबी के लिए हिंसा का सहारा नहीं लेना पड़ेगा ?"

विश्वविद्यालय के अध्यापकों की एक खानगी सभा में मुझसे इन सवालों के जवाब देने को कहा गया था।

मेरा जवाब इस प्रकार था :—

मैं मानता हूँ कि अहिंसा के व्यवहार की कुछ स्वभावसिद्ध मर्यादाएँ हैं। जैसे—दूसरों को नुकसान पहुँचानेवाले हक आप अहिंसा से न तो हासिल कर सकते हैं और न उनको कायम ही रख सकते हैं। मसलन् यदि आप किसी ऐसी राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना या रक्षा करना चाहें, जिसमें अंग्रेज, मुसलमान, हिन्दू या देशी राजा अथवा किन्हीं आर्थिक वर्गों की हुकूमत दूसरों पर चले, तो आप अहिंसा से काम नहीं ले सकते। जो बात राजनैतिक व्यवस्था पर लागू है, वही दूसरी सारी व्यवस्थाओं के लिए भी उतनी ही लागू है। लेकिन, यदि आप ऐसी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था कायम करना चाहें, जिसका उद्देश्य हर एक व्यक्ति के समान रुतबे और समान सुयोगों का उपभोग करने में आनेवाली रुकावटों को दूर करना हो, तो ऐसी व्यवस्था आप सम्पूर्ण रूप से केवल अहिंसा के द्वारा स्थापित कर सकते हैं।

दुष्टता के प्रयोग या रक्षा के लिए मनुष्य ने हमेशा हिंसा से ही काम लिया है। कभी-कभी बुराई के प्रतिकार के लिए भी उसने हिंसा का प्रयोग किया है। जो दुष्टता की रक्षा या प्रयोग करना चाहता है,

वह कभी अहिंसक क्रिया का बन्धन नहीं मानेगा। अगर वह अहिंसा का श्रेय लेने का दम भी भरना चाहेगा, तो वह ऐसी परिस्थिति पैदा करेगा कि उसके लिए प्रत्यक्ष हिंसा के प्रयोग की जरूरत ही न रहे और उसके विपक्षी के लिए हिंसा का प्रयोग निष्फल हो। याने वह शस्त्रास्त्रों से इतना लैस और सुसज्जित हो जायेगा कि उसके प्रतिपक्षी के लिए उसका सामना करने या बदला लेने की कल्पना भी करना दुश्वार हो जाये। उसके धर्म-शास्त्र में बिना बदला लिये कष्ट-सहन का कोई स्थान नहीं हो सकता।

इसलिए कोई भी साम्राज्य-निर्माता--चाहे वह नाज़ी, फैसी अथवा ब्रिटिश पद्धति का हो या जापानी, मुसलमानी और हिन्दू-पद्धति का--अहिंसा का मखौल किये बिना नहीं रह सकता। वह हिंसा का कर्त्तव्य साबित करने के लिए हर एक धर्म के शास्त्रों में से प्रमाण उपस्थित करेगा।

लेकिन, कुछ ऐसे साम्राज्य-विरोधी सच्चे जिज्ञासु भी हैं, जो अहिंसा की कार्यक्षमता के विषय में निःसंदिग्ध विश्वास प्राप्त करना चाहते हैं। 'क्या अहिंसा अपने-आप म मनुष्य के न्याय्य अधिकारों की प्राप्ति और रक्षा का, या यों कहिए कि मनुष्य जिन अन्यायों को अनुभव करता है और जिनके विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं रह गया है, उन अन्यायों के निवारण का, पर्याप्त आयुध है?' वह जिज्ञासु हिंसा से उकता गया है और दूसरे कारगर उपाय की तलाश में है। वह रास्ता टटोलता हुआ अहिंसा की तरफ बढ़ता है, लेकिन हर क़दम पर उसे सन्देह होता है कि क्या सचमुच यह राह उसे मंज़िले-मकसूद पर पहुँचा देगी?

सत्याग्रह के जनक का तो यह दावा ह कि सत्याग्रह अपने-आप में क सम्पूर्ण अस्त्र है, जो न्याय और समानता पर खड़ी हुई दुनिया को

नवरचना कायम कर सकता है और इस विधान की रक्षा के लिए हिंसा की सहायता की ज़रूरत नहीं रहेगी। हम जानते हैं कि एक हद तक सारी दुनिया नें उस दावे को मान लिया है। यह स्वीकृति हिंसा और अहिंसा के गुण-दोषों की तात्त्विक चर्चा का ही परिणाम नहीं है। बल्कि यह प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम है कि अहिंसक प्रतिकार ने ब्रिटिश सत्ता की जड़ें हिला दी हैं।

परन्तु अभी बहुत-कुछ करना बाक़ी है। तबतक हिंसा के एक कार्य-क्षम पर्याय के रूप में अहिंसा का पूरा-पूरा स्वीकार नहीं होगा। दुनिया में अभूतपूर्व हिंसा के इस आक्रमण के सामने बहादुर से बहादुर दिल भी काँप उठें इसमें आश्चर्य नहीं।

सत्याग्रह का प्रवर्तक कहता है कि उसके सिद्धान्त में उसका विश्वास इतना दृढ़ कभी नहीं था जितना कि आज है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि हिंसा के पैर अब उखड़ गये हैं। यद्यपि हममें इतनी अद्भुत श्रद्धा न हो तो भी यह कार्य जितना उसका है, उतना ही हमारा भी है। इसलिए उसकी आज्ञाएँ बजा लाकर हम उसकी मदद कर सकते हैं; क्योंकि उसके मार्ग के अलावा दूसरा विकल्प तो हिंसा का ही हो सकता है। और हम रोज देख रहे हैं कि न्याययुक्त व्यवस्था कायम करने में हिंसा निष्फल साबित हो रही है। उतनी उज्जवल श्रद्धा और ज्ञान से नहीं, तो कम-से-कम सच्ची मेहनत से हम उसका उपाय आजमायें, तो हर्ज तो हर-गिज नहीं हो सकता। उसके पक्ष में सारे संसार के धार्मिक पुरुषों का अनुभव है। हम उसे तुच्छ न समझें।

'मण्डल' का गांधी-साहित्य

महात्मा गांधी की रचनाएँ

१. **आत्मकथा** : विश्व-साहित्य का एक अनमोल रत्न। उपनिषदों-जैसा पवित्र और उपन्यासों-जैसा रोचक। बापू द्वारा सत्य की साधना के पथ की रूप-रेखा। नवीन और सस्ता संस्करण १) : विशेष संस्करण १॥) संक्षिप्त संस्करण (पाठ्यक्रम के लिए) ॥)

२. **दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह** : 'सत्याग्रह' की उत्पत्ति और दक्षिण अफ्रीका में उसके प्रथम प्रयोगों का इतिहास १॥)

३. **अनीति की राह पर** : संयम और ब्रह्मचर्य पर लिखे हुए उनके लेख ॥=)

४. **ब्रह्मचर्य** : संयम और ब्रह्मचर्य पर लिखे हुए नये लेख ॥)

५. **हमारा कलंक** : अप्राप्य : इसका अंग्रेजी संस्करण 'ब्लीडिंग वूण्ड' मण्डल से मिलता है। १॥)

६. **स्वदेशी : ग्रामोद्योग** : स्वदेशी और ग्रामोद्योग पर लिखे हुए लेख ॥)

७. **युद्ध और अहिंसा** : युद्ध और अहिंसा पर लिखे हुए लेख ॥)

८. **गीताबोध** : गीता का सरल तात्पर्य -)

९. **मंगल-प्रभात** : सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि एकादश व्रतों पर प्रवचन -)

१०. **अनासक्तियोग** : गीता की सरल टीका =) श्लोक-सहित ≡) सजिल्द ।)

११. **सर्वोदय** : रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' का रूपान्तर -)

१२. **हिन्द-स्वराज** : स्वराज की हमारी समस्या पर लिखी पुरानी पुस्तिका, जो आज भी ताजी है ≡)

१३. **ग्रामसेवा** : ग्रामसेवा पर लिखा हुआ निबन्ध =)

१४. **सत्यवीर सुकरात** : यूनान के महापुरुष सुकरात के मुकदमे और उनके बयान का रोचक और शिक्षाप्रद वर्णन -)

१५. सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ? : सत्याग्रह क्यों कब, और कैसे शुरू किया जाये इसपर लिखे हुए लेख =)

गांधी-सम्बन्धी ग्रन्थ

१. गांधी-विचार-दोहन : श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला—इसमें महात्मा गांधी के विचारों को विषयानुसार वर्गीकरण द्वारा संकलित किया गया है. ।।।)

२. इंग्लैण्ड में महात्माजी : श्री महादेव ह० देसाई—गांधीजी की दूसरी गोलमेज़ परिषद के समय की यात्रा का सुन्दर सरस वर्णन ।।।)

३. गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : सम्पादक—श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् इसमें विदेशी और भारतीय संतों विचारकों, विद्वानों और लोकनेताओं के गांधीजी पर लिखे गये तात्त्विक लेख हैं। मूल-ग्रंथ की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है। उसीका हिन्दी अनुवाद १।), २)

४. बापू : श्री घनश्यामदास बिड़ला—गांधीजी का अत्यन्त निकट से किया हुआ अध्ययन; रोचक स्मरणीय प्रसंगों से पूर्ण; कई भाषाओं में अनुवादित; देश में सर्वप्रशंसित; १३ सुन्दर चित्रों सहित ।।=), सजिल्द १।), हाथ कागज पर छपा २)

६. डायरी के पन्ने : श्री घनश्यामदास बिड़ला—गांधीजी के साथ दूसरी गोलमेज़ परिषद में हुई लेखक की यात्रा का रोचक, ज्ञानवर्धक वर्णन; गोलमेज़-नाटक के नेपथ्य का परिचय। अनेक चित्रों सहित ।।।) सजिल्द १।)

७. महात्मा गांधी : श्री रामनाथ 'सुमन'—अप्राप्य

सोल-एजेंसी प्रकाशन

८. गांधीवाद की रूपरेखा : श्री रामनाथ 'सुमन'—गांधीवाद का गंभीर और मननीय विवेचन १)